

भूमंडलीय पारिस्थितिकीय समस्याएं और सहस्राब्दि के प्रारंभ में पारिस्थितिकीय-लोकतंत्र से जुड़े कुछ सवाल

वसुधैव कुटुंबकम के पारिस्थितिकीय-लोकतंत्र
कार्यदल के लिए परिचर्चा-पत्र

प्रथम ड्राफ्ट, जुलाई - 2003

जनवरी, २००४

प्रकाशक : वसुधैव कुटुम्बकम्

साउथ एशियन डायलाग्स ऑन इकोलॉजिकल डेमोक्रेसी-सी.एस.डी.एस.

29, राजपुर रोड़

दिल्ली - 110054

अनुवाद : राजेश कुमार झा

वागीश कुमार झा

आपकी प्रतिक्रियायें और विचार इस परिचर्चा-पत्र को पारिस्थितिकीय लोकतंत्र का वैश्विक घोषणा पत्र बनाने में निश्चय ही एक महत्वपूर्ण योगदान होगा।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें :

networkscommunication@gmail.com

vagishkjha@yahoo.com

भूमिका

21वीं सदी के इस प्रारंभिक दौर में पर्यावरण संबंधी समस्याएं मानवता के सामने सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उभर कर सामने आयी हैं। यह इस भूमंडल पर रहने वाले लोगों के दूरगामी कल्याण की दृष्टि से सबसे बड़ा खतरा है।

मिट्टी की घटती उर्वरा-शक्ति, बढ़ते मरुस्थलीकरण और क्षारीकरण जैसी समय से चली आ रही समस्याओं के कारण हैं विश्व के अनेक हिस्सों में अनाज के उत्पादन पर दुष्प्रभाव पड़ रहा है। दुनियाँ के कई शहरों में हवा आज पहले से कहीं अधिक प्रदूषित हो चुकी है तो वहीं दूसरी ओर लाखों लोग मानवीय और औद्योगिक कचड़े से प्रदूषित पानी पीने को मजबूर हैं। लंबे समय से चली आ रही इन समस्याओं के अलावा आधुनिक औद्योगिक विकास ने भी पिछले 100 साल के दौरान पर्यावरण-संबंधी कुछ अत्यंत भयंकर समस्याओं को पैदा किया है।

आज से सौ-साल पहले हमें ओजोन-परत के अस्तित्व के बारे में कुछ भी पता नहीं था। आज हम जानते हैं कि यह परत मानव-जनित रसायनों के कारण नष्ट हो रही है।

हमने पृथ्वी के गर्भ में छिपे गहरे भूजल का प्रयोग कुछ ही दशक पहले शुरू किया है। उस समय हमने सोचा था कि भूगर्भीय जल का प्रयोग पानी संबंधी हमारी समस्याओं को समाप्त कर देगा और हजारों सालों से चली आ रही जल के संग्रहण और संरक्षण की परंपरागत तकनीकों की हमें कोई जरूरत नहीं रह जाएगी। अतिदोहन के कारण मात्र 50 वर्षों में भूगर्भीय जल का स्तर चिंताजनक रूप से नीचे जा चुका है। इसके साथ ही भूगर्भीय जल के प्रदूषण की गंभीर समस्या भी हमारे सामने है जिसका सबसे गंभीर उदाहरण है बंगलादेश, पश्चिम बंगाल, आंध्रप्रदेश और बिहार के कुछ हिस्सों में फैली आर्सेनिक-जल की समस्या। इसके साथ ही दक्षिण एशिया, उत्तरी अफ्रीका, मध्यपूर्व, चीन, दक्षिण अमेरिका आदि में जल-संग्रहण और संरक्षण की लाखों परंपरागत तकनीकें दम तोड़ रही हैं। पानी की इस गंभीर समस्या को दूर करने के लिए नदियों को जोड़ने जैसी अति महत्वाकांक्षी सरकारी परियोजनाएं समस्याओं के समाधान की जगह आग में घी डालने का ही काम कर रही हैं।

ग्रीनहाउस का बढ़ता प्रभाव भी पर्यावरण को अस्थिर बना रहा है। इसके कारण जलवायु में बेतुके परिवर्तन हो सकते हैं और हमारी कृषि पर भी दुष्परिणाम पड़ सकते हैं। हिमालय के कुछ ग्लेशियरों (हिमनदों) के पिघलने के कारण एशिया की कुछ महत्वपूर्ण नदियाँ सूख सकती हैं। ग्रीनलैंड और पश्चिमी एंटार्क्टिक ग्लेशियर के पिघलने से समुद्रतल ऊपर उठ सकता है जिसकी चपेट में दुनियाँ की अधिकांश उपजाऊ जमीन आ सकती है। इसके कारण विशाल और खतरनाक त्सुनामी तरंगों (Tsunami Waves) भी पैदा हो सकती हैं।

एक तरफ भूमंडलीय ताप के बढ़ने का खतरा हम पर मंडरा रहा है वहीं दूसरी ओर अमरीका की सरकार ने डंके की चोट पर घोषणा की है कि वह कार्बन डाय-ऑक्साइड के उत्सर्जन को 40 प्रतिशत बढ़ाने का इरादा रखती है।

कई पर्यवेक्षक मानते हैं कि पर्यावरण संबंधी इन समस्याओं का समाधान 'बाजार' के द्वारा संभव है। लेकिन सच तो यह है कि बाजार पर निर्भरता के कारण परमाणु-ऊर्जा और साथ ही 'भूगर्भीय कोयले के गैसीकरण' विधि से प्राकृतिक गैस के उत्पादन को भी बढ़ावा मिल रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो बाजार पर निर्भरता ऊर्जा उत्पादन की सबसे खतरनाक दो विधियों को ही प्रोत्साहित कर रही है।

इस धरती पर रहने वाले अधिकांश लोग इसके पक्ष में नहीं हैं। लोग शुद्ध हवा और पानी चाहते हैं और वो वनों के विनाश के भी खिलाफ हैं। लोग ऐसी ऊर्जा का प्रयोग पसंद करते हैं जिससे हमारा पर्यावरण संतुलन न बिगड़े। लोग अपनी आने वाली पीढ़ियों के लिए खूबसूरत दुनियाँ छोड़ना चाहते हैं, ऐसी दुनियाँ जो परमाणु-विकिरण से प्रदूषित न हुई हो। आखिर हमारी संततियों को भी इस संसार में पैदा होने का हक है!

हालांकि यह भी सच है कि आर्थिक-राजनीतिक शक्ति-संबंधों की एक जटिल प्रक्रिया के तहत लोग उन प्रदूषणकारी नीतियों को समर्थन देने और उपयोग करने को मजबूर हो जाते हैं जिन्हें वो स्वयं ही पसंद नहीं करते। इसीलिए हम वर्तमान और भावी पीढ़ियों को पर्यावरण विध्वंस से तब तक नहीं बचा सकते जब तक हम लोकतंत्र और समता के मुद्दों पर विचार न करें। पारिस्थितिकीय-लोकतंत्र न सिर्फ लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है बल्कि मानव-समाज का अस्तित्व बचाए रखने की भी आवश्यक शर्त है।

पारिस्थितिकीय लोकतंत्र के मुद्दे

पारिस्थितिकीय लोकतंत्र एक जटिल अवधारणा है जिसके समाज के विभिन्न स्तरों पर अनेक पहलू हैं। वर्तमान में प्रचलित कई तकनीकें और आचरण ऐसे हैं जो मात्र कुछ एक पीढ़ियों में आगे आने वाली हजारों लाखों पीढ़ियों पर गंभीर प्रभाव डाल सकती हैं। लेकिन भावी-पीढ़ियाँ तो मतदान नहीं कर सकतीं। ऐसे सवालों का क्या होगा?

प्रायः पर्यावरण संबंधी समस्याओं के अनेक समाधान संभव हैं। लेकिन हर समाधान अपना एक विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभाव छोड़ती है। ऐसी स्थिति में कौन तय करेगा कि किस तरीके से पर्यावरण संबंधी समस्या से निबटा जाए? कौन तय करेगा कि प्रकृति की कितनी रक्षा की जाए और कैसे? निर्णय-संबंधी अधिकार किस मात्रा में वैश्विक

स्तर पर या फिर राष्ट्रीय, क्षेत्रीय या ग्रामीण स्तर पर दिया जाने चाहिए? निर्णय के इन विभिन्न स्तरों को हम कैसे जोड़ सकते हैं? क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और वैश्विक स्तरों के बीच होने वाले संघर्षों और टकराव से हम कैसे निबटेंगे?

प्राकृतिक साधनों के क्षेत्रीय स्तर पर नियंत्रण के मुद्दे पर उत्तरी और दक्षिणी पर्यावरणवादियों के बीच गहरे मतभेद रहे हैं। इस विषय में सोच की दो मुख्य धाराएं रही हैं जिन्हें हम टिकाऊ (Sustainable) उपयोगवादी और संरक्षणवादी (Protectonist) धाराएं कह सकते हैं।

1970 और 80 के दशक में यूरोप के राजनीतिक मानचित्र पर उभरने वाली ग्रीन-पार्टियों और पर्यावरण-संबंधी संस्थाओं के बीच संरक्षणवादी धारा अधिक मजबूत रही। उत्तरी गोलाद्ध की भूतपूर्व किसान पार्टियाँ जो अब मध्यमार्गी पार्टियों के रूप में जानी जाती हैं, अपनी पर्यावरण-संबंधी विचारधारा में प्राकृतिक साधनों के टिकाऊ-उपयोग और स्थानीय-नियंत्रण की पक्षधर रही हैं। इन किसान पार्टियों तथा ग्रीन-पार्टियों के बीच संवाद की स्थिति कठिन रही है और कई मुद्दों पर ये एक दूसरे के आमने-सामने भी रही हैं। इन विचारधारात्मक मतभेदों के कारण दोनों पक्षों के बीच ध्रुवीकरण बढ़ा है जिसका खामियाजा अंततः पर्यावरण-संरक्षण संबंधी गतिविधियों को ही भुगतना पड़ा है। इसके परिणामस्वरूप यूरोप की कई ग्रीन-पार्टियों ने पर्यावरण संरक्षण और सुरक्षा के बारे में 'ऊपर से नीचे' वाली नीति अपना ली जिसके कारण वो ग्रामीण-जनता के सरोकारों से दूर होते गए। दूसरी ओर ग्रीन-पार्टियों तथा पर्यावरणवादियों से ऊबरकर और नाराज होकर यूरोप की कई किसान-पार्टियाँ और मध्यमार्गी पार्टियाँ आज पर्यावरण संबंधी मुद्दों से पहले की तुलना में काफी दूर हट चुकी हैं। दक्षिणी गोलाद्ध में किसान-आंदोलन जहाँ पर्यावरण आंदोलन की धुरी के रूप में विकसित हुआ है, उत्तरी गोलाद्ध में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। इसके विपरीत नई ग्रीन-पार्टियों के 'ऊपर से नीचे' वाली नीति से नाराज होकर यूरोप की कई किसान पार्टियों ने कई बार घोर पर्यावरणविरोधी रुख भी अख्तराया किया है।

दक्षिणी गोलाद्ध में शक्ति-संतुलन काफी अलग रहा है। इस क्षेत्र में भोजन, पानी, आवास और आर्थिक आमदनी की समस्याएं अधिकांश जनता के लिए इतनी गंभीर रही है कि पर्यावरण का कोई भी मुद्दा जो इन समस्याओं को दरकिनार करता है, जनता का समर्थन प्राप्त नहीं कर पाता है। इस क्षेत्र में चलने वाले पर्यावरण आंदोलनों ने टिकाऊ विकास, वनों और कृषि योग्य जमीन, वन्य-जीवन, मछली आदि जलीय-जीवों, के टिकाऊ उपयोग, जमीन के विविध उपयोगों, कृषि, वानिकी, पशुपालन, पर्यटन और पर्यावरण संरक्षण के बीच उचित संतुलन-जैसे मुद्दों पर खासकर ध्यान दिया है।

शुरूआत में पर्यावरण-संबंधी सभी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में उत्तरी संरक्षणवादी विचारधारा हावी थी। लेकिन धीरे-धीरे दक्षिणी क्षेत्र के संगठनों के बढ़ते प्रभाव के कारण 'टिकाऊपन' की विचारधारा शक्तिशाली हुई है। इस परिवर्तन की शुरूआत सबसे पहले IUCN (International Union For The Conservation Of Nature) तथा FOEI (Friends of Earth

International) जैसे संगठनों से हुई। बाद में यह प्रभाव ग्रीनपीस इंटरनेशनल तथा WWF इंटरनेशनल में भी फैला।

अगर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में इस प्रकार की अन्य ग्रीन-पार्टियाँ अस्तित्व में आती हैं तो अंतर्राष्ट्रीय ग्रीन-आंदोलन के अंदर या कम से कम उनके अंतर्राष्ट्रीय सहयोग संस्थाओं के बीच भी इसी प्रकार के विचारधारात्मक परिवर्तन की अपेक्षा की जा सकती है। इसके कारण ग्रीन-पार्टियाँ और यूरोपीय किसान पार्टियाँ/मध्यमार्गी दल भी एक दूसरे के करीब आएं और शायद मध्यमार्गी दलों का झुकाव भी एक बार फिर पर्यावरण संबंधी मुद्दों की ओर बढ़ेगा। रियो डि जेनेरो, (ब्राजील) में 1992 में हुए UNCED (United Nations Conference For Environment And Development) और जोहांसबर्ग, दक्षिण अफ्रीका में 2002 में हुए सम्मेलनों (UN Conference on Sustainable Development) ने भी विचारधारा में हो रहे इस परिवर्तन को गति प्रदान की है। 1990 के दशक में IUCN, WWF जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा करवाए गए 'टिकाऊपने अध्ययनों' ने भी इस विचारधारा को और मजबूती प्रदान की। पर्यावरण संस्थाओं का सोचना था कि टिकाऊपने संबंधी इन अध्ययनों से उनकी इस धारणा को बल मिलेगा कि अधिकतर सरकारों द्वारा चलायी जा रही अधिकांश नीतियाँ दीर्घकाल में चलाना संभव ही नहीं है क्योंकि वे मूल प्राकृतिक संसाधनों का विनाश करती हैं। उनका सोचना था कि इस अध्ययन के आधार पर इन सरकारों के ऊपर पर्यावरण-सहयोगी नीतियाँ अपनाने के लिए दबाव डाला जा सकता है। अध्ययनों ने निश्चय ही ऐसे निष्कर्षों को सही पाया लेकिन साथ ही इसने अनेक पर्यावरण-संस्थाओं द्वारा अपनाए जा रहे परंपरागत दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना भी की। यह इन संस्थाओं के लिए एक चौंकाने वाली बात थी।

तथ्यों का इशारा बिल्कुल स्पष्ट था। एक ही ढंग की बातें बार-बार उभरकर सामने आ रही थीं। अध्ययनों से यह बात साफ साबित हो रही थी कि यदि लोगों की जरूरतों का ख्याल न रखा गया तो 'नैचुरल पार्क' जैसे सुरक्षित-प्रदेश आज न कल स्थानीय आवश्यकताओं के दबाव में रौंद दिए जाएंगे।

इसी संदर्भ में WWF इंटरनेशनल के महानिदेशक और जैवविज्ञानी क्लाउड मार्टिन का कहना है कि यदि आसपास रहने वाले लोगों की जरूरतों का ख्याल न रखा गया तो सुरक्षित क्षेत्रों का निर्माण बेमानी है। इसका परिणाम होगा संघर्ष और सफलता की संभावना भी क्षीण होगी।

बढ़ता वैश्विक तापमान और पारिस्थितिक लोकतंत्र

अधिकांश पर्यावरणविद और वैज्ञानिक आज यह स्वीकार करते हैं कि ग्रीनहाउस का भूमंडल पर बढ़ता प्रभाव मानवता के भविष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा है। बढ़ता वैश्विक तापमान

लोकतंत्र और समता से संबंधित एक जटिल मुद्दा भी है। दीर्घकाल में ग्रीनहाउस का खतरा पूरी दुनियां को झेलना पड़ेगा लेकिन सच्चाई यही है कि इस समस्या की जड़ में दुनियां की अमीर-आबादी वाला छोटा सा हिस्सा ही है। दुनियां के गरीब देशों की तुलना में प्रति व्यक्ति ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कुछ देशों में सौ गुणा से भी ज्यादा है। प्रत्येक देश के अंदर भी अमीर लोग गरीब जनता की तुलना में अधिक ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन करते हैं।

अमीर बड़ी कारों और हवाई जहाज में चलते हैं जो प्रति व्यक्ति प्रति किलोमीटर काफी अधिक ग्रीनहाउस गैस पैदा करते हैं। अमीरों के घरों को गरम या ठंडा करने में प्रयुक्त जीवाश्म ईंधन या उपभोग की सामग्रियों के उत्पादन के क्रम में बड़ी मात्रा में पर्यावरण को गर्म करने वाली ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन होता है।

पर्यावरण संतुलन बनाए रखने के लिए यदि हम एक निश्चित मात्रा में ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन का फैसला करते हैं तो इसकी कुल मात्रा का निर्धारण प्रति व्यक्ति उत्सर्जन के आधार पर करना ही न्यायसंगत होगा। लेकिन इस व्यवस्था को लागू करना आसान नहीं। कई पर्यवेक्षक मानते हैं कि इन प्रदूषणकारी ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन के अधिकार के बंटवारे का सवाल 21वीं सदी में नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को लागू करने के समान है।

1992 में हुए UNCED सम्मेलन में औद्योगिक राष्ट्रों ने कार्बन डाई-ऑक्साइड के उत्सर्जन स्तर को 2000 ई. तक 1990 के स्तर पर लाने का वादा किया था। यह एक छोटी सी पहल थी लेकिन आशा की जा रही थी कि इसके परिणामस्वरूप उचित दिशा में और भी सार्थक कदम उठाए जाएंगे।

1997 के अंत में हुए क्योटो सम्मेलन में अंततः औद्योगिक राष्ट्रों ने वादा किया कि ये देश सन् 2012 तक ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को 1990 के स्तर से 5% नीचे ले आएंगे। IPCC द्वारा घोषित स्तरों की तुलना में तो यह संतोषजनक नहीं था लेकिन इसके बावजूद क्योटो प्रोटोकॉल का ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कम करने की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम के रूप में स्वागत किया गया। लेकिन जुलाई-2001 में आयोजित बॉन-सम्मेलन ने क्योटो प्रोटोकॉल की अनुशंसाओं को थोड़ा कमजोर कर दिया। बॉन में यह फैसला किया गया कि क्योटो-प्रोटोकॉल पर दस्तखत करने वाले औद्योगिक राष्ट्र अपने लिए निर्धारित ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के बदले दूसरे देशों के लिए निर्धारित कार्बन डाई-ऑक्साइड उत्सर्जन में कमी के हिस्से को खरीद सकते हैं। उन्हें तीसरी-दुनियां और भूतपूर्व सोवियत संघ के देशों में ग्रीनहाउस गैसों में कमी लाने के लिए आर्थिक सहयोग देकर या फिर अपनी कृषि-भूमि या वन प्रदेश में कार्बन डाई-ऑक्साइड को सोखकर भी क्योटो-प्रोटोकॉल का पालन करने का विकल्प दिया गया।

दरअसल अमेरिका, जो औद्योगिक राष्ट्रों के ग्रीनहाउस गैस का एक तिहाई पैदा करता है, को छोड़कर अन्य औद्योगिक राष्ट्रों ने सन् 2012 तक ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को 1990 के स्तर से 1.8 प्रतिशत नीचे लाने का वादा भी किया।

लेकिन इसके आगे का रास्ता कठिन है। दुनिया के पैमाने पर कार्बन डाई-ऑक्साइड उत्सर्जन के स्तर में 60-80% कमी लाने के लिए विकसित राष्ट्रों को तो बहुत कुछ करना ही है, दक्षिणी गोलार्द्ध के देशों को भी कमर कसना होगा। कुछ विकासशील राष्ट्रों का कहना है कि पश्चिमी देश ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में 60% योगदान करते हैं जबकि उनकी आबादी विश्व की तुलना में 20% ही है। प्रति व्यक्ति उत्सर्जन के आधार पर देखें तो अमेरिका बंगलादेश की तुलना में 100 गुणा अधिक कार्बन डाई-ऑक्साइड पैदा करता है। ऐसी स्थिति में दोनों देशों से अपने उत्सर्जन स्तर में 60-80% कमी लाने का आग्रह कहाँ तक न्यायोचित है?

तीसरी दुनियाँ के कई देश प्रति व्यक्ति आबादी के आधार पर ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन के कोटे का समर्थन करते हैं क्योंकि इसके आधार पर एक करोड़ की आबादी वाले देश को दस लाख की आबादी वाले देश की तुलना में 10 गुणा अधिक उत्सर्जन का अधिकार प्राप्त होता है। अगर इस सिद्धांत पर सहमति होती है तो तीसरी दुनिया के देश कुछ और समय तक ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ा सकते हैं या फिर नहीं उपयोग में लाए गए अपने कोटे को औद्योगिक राष्ट्रों को बेच सकते हैं। दूसरी तरफ औद्योगिक राष्ट्रों को या तो अपने उत्सर्जन स्तर को काफी घटाना पड़ेगा या फिर तीसरी दुनिया के देशों से उन्हें उत्सर्जन-अधिकार खरीदना होगा।

OECD के अनुमान के अनुसार यदि हम दुनिया के पैमाने पर उत्सर्जन स्तर में 20% की कमी लाना चाहते हैं तो प्रति टन कार्बन उत्सर्जन परमिट की कीमत \$100-350 के बीच हो सकती है। दिल्ली की संस्था विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र [Centre for Science and Environment (CSE)] के अनुसार इन उत्सर्जन-परमितों के आधार पर तीसरी दुनिया के देश 100 अरब डालर तक की राशि अर्जित कर सकते हैं। उत्सर्जन में 60-80% कमी होने की अवस्था में उत्सर्जन कोटा और उसकी अंतर्राष्ट्रीय कीमत कई गुणा बढ़ सकती है।

उत्सर्जन परमिट के अलावा कार्बन को सोखने वाली वन जैसी सम्पदाएं भी व्यापारिक रूप से प्रयोग में आ सकती हैं। अगर ऐसा होता है और सरकारों को कार्बन-सोखने के लिए आय-प्राप्त होती है तो शायद किसानों और ग्रामीण समुदाय को भी उसका एक हिस्सा प्राप्त होगा।

पर्यावरण समझौते पर बातचीत के दौरान कई पर्यावरणवादी समझौते में कार्बन-सोखे (Carbon Sinks) को शामिल करने के खिलाफ थे। उनका मानना है कि वनों आदि में कार्बन का अवशोषण महज एक अस्थायी समाधान है क्योंकि कार्बन को सोखने की वनों की शक्ति

बिल्कुल सीमित है। पेड़ों के मरते ही कार्बन फिर से वातावरण में कार्बन डाई-ऑक्साइड के रूप में वापस हो जाता है। और यदि कहीं जंगलों में भीषण आग लग गई तो फिर उनमें संचित कार्बन डाई-ऑक्साइड का क्या होगा? दीर्घकाल में पर्यावरण में कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा को नियंत्रित करने का एकमात्र तरीका है तेल, कोयले और प्राकृतिक गैस का सीमित उपयोग।

लेकिन कुछ अन्य पर्यावरण संस्थाओं ने संधि में कार्बन-सोखते को शामिल करने का समर्थन किया। उनका कहना है कि कार्बन-सोखते से होने वाले आर्थिक लाभ के लिए कई देश अपने बचे वन प्रदेश को सुरक्षित रखेंगे। इस विचार को अमेजन क्षेत्र के मूल-निवासियों और ब्राजील के अमेजन क्षेत्र के रबर-संग्राहक और कंद-संग्राहकों के संगठन (CNS) का समर्थन प्राप्त हुआ।

ब्राजील, कोलंबिया, वेनेजुएला, एक्वेडोर और पेरू में सरकार तथा मूल-निवासियों के बीच हुए समझौतों के कारण बड़ी मात्रा में वनों को काटने से बचाया जा सका है। प्राकृतिक संरक्षण के इतिहास में यह एक बड़ी घटना है क्योंकि जमीन पर पायी जाने वाली जैव-प्रजातियों में से लगभग 30% अमेजन के वनों में पायी जाती हैं। अमेजन के जंगलों में रहने वाले इन मूल निवासियों को जंगलों से बिना पेड़ कटे रबड़ कंदमूल वगैरह जमा करने वाले लोगों के ट्रेड-यूनियनों से सबसे अधिक सहयोग मिला। इनमें से CNS (ब्राजील के रबड़ जमा करने वाले, कंद-संग्राहकों का संगठन) काफी महत्वपूर्ण रहा है। ब्राजील में करीब 40 लाख - 60 लाख लोगों की जीविका इन गतिविधियों पर निर्भर करती है जबकि इन जंगलों में बहुत थोड़ी संख्या में इंडियन भी रहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप ब्राजील के जंगलों की रक्षा के दृष्टिकोण से CNS आज सबसे महत्वपूर्ण संस्था बन चुकी है।

इसके बावजूद जब CNS ने पर्यावरण-संधि में कार्बन-सोखते के समावेश का समर्थन किया तो इसके लिए विकसित राष्ट्रों की पर्यावरण संस्थाओं ने इसकी कटु आलोचना की। जरूरी नहीं कि कार्बन सोखने वाले जंगलों की स्थापना एक अस्थायी समाधान हो। इन वनों का उपयोग कर बहुत ही लंबे समय तक कार्बन को पेड़ों में कैद कर रखा जा सकता है। वानिकी में चक्रीयता की अवधि को लंबा कर ऐसा करना आसान होता है। इसके अलावा पेड़ों की ऐसी अनेक प्रजातियाँ हैं जो हजारों सालों तक जिंदा रह सकती हैं और अगर उन्हें छेड़ा न जाए तो वो विशालकाय भी हो सकती हैं।

साधारण वनों की तुलना में कार्बन-सोखता जंगलों को आग का खतरा भी कम होता है। छोटे और नए पौधे आसानी से जल जाते हैं जबकि अपनी मोटी छाल के कारण पुराने पेड़ों में आग से बचने की अद्भुत क्षमता होती है। बाओबाब (Baobab) जैसे कुछ पेड़ तो जीवित अवस्था में जल ही नहीं सकते क्योंकि उनके अंदर भारी नमी पायी जाती है।

यह सही है कि वैश्विक स्तर पर तापमान बढ़ने के साथ ही जंगलों में आग लगने की समस्या भी बढ़ेगी। लेकिन वनों के बढ़ी हुई औसत उम्र के कारण इससे होने वाला नुकसान

काफी कम हो जाएगा। व्यावसायिक रूप से जंगलों में उगाए जाने वाले पौधों को साधारण जंगली आग को बर्दाश्त करने की क्षमता भी नहीं होती है।

अनेक दक्षिणी-संगठनों ने कुछ और खतरों की ओर भी इशारा किया है। अगर सरकार और निजी क्षेत्र की कंपनियां दक्षिणी गोलार्द्ध में विशाल कार्बन-सोखता वन स्थापित करने लगते हैं तो इसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक भूमि (Common Lands) का बड़े पैमाने पर निजीकरण होगा और भारी संख्या में लोग भी विस्थापित होंगे। थाईलैंड की सरकार ने 45 लाख हेक्टेयर जमीन पर यूक्लिप्टस लगाने की जब घोषणा की तो इसका भयंकर विरोध हुआ क्योंकि इससे 50 लाख से 1 करोड़ तक ग्रामीण लोगों के विस्थापित होने की संभावना थी। अंततः यह योजना लागू न की जा सकी। इसी प्रकार, अमरीका सरकार के ऊर्जा मंत्रालय ने वैश्विक तापमान नियंत्रण के लिए 70 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर वन-रोपण कार्यक्रम की योजना बनायी है। यह कल्पना करने की बात है कि इस प्रकार के 'हवाई' कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप कितने लोग विस्थापित होंगे?

लेकिन इसके बावजूद, कार्बन-सोखता वनों को उपयोगी बनाना संभव है। इस प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होगा गरीबों के हाथों में अधिक से अधिक साधन प्रदान करना। इसका प्रावधान कार्बन-सोखता वनों संबंधी संधि के अंदर ही करना आवश्यक होगा। इसके कई तरीके हो सकते हैं। सबसे अच्छा विकल्प होगा कि इन कार्बन-सोखता वनों में सिर्फ ऐसे पेड़ लगाए जाएं जिनसे मानव-उपभोग के लायक खाद्य सामग्री पैदा होती हो। साथ ही इन वनों के उपयोग की आजादी भी स्थानीय लोगों को मिलनी चाहिए ताकि वो इन वनों से कंद-मूल, मशरूम आदि जमा कर सकें, सूखी टहनियों, कोन (cone) आदि का उपयोग जलावन के लिए कर सकें और उनके पशु इन वनों में पेड़ों के बड़े हो जाने के बाद चर सकें। वनरोपण कार्यक्रमों में ऐसे पेड़ों पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है जिनसे खाद्य पदार्थ पैदा होते हों और जो जंगली-आग में आसानी से नहीं जलते हों।

हमें संधियों की इन व्यवस्थाओं का स्वागत करना चाहिए। लेकिन इसकी तीन शर्तें होंगी। पहली शर्त है कि बॉन में हुए समझौते की तर्ज पर, सरकारें उत्सर्जन को कम करने के लिए कार्बन-सोखता वन रोपण या अन्य देशों के कार्बन उत्सर्जन का हिस्सा खरीदने संबंधी कार्यक्रमों का केवल एक हिस्सा ही निजी-क्षेत्र के साथ मिलकर लागू करें। यह भी महत्वपूर्ण है कि सरकारों को ऊर्जा-संरक्षक तकनीकों और ऊर्जा के अक्षय स्रोतों (renewable energy) के विकास के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जाए। वनों के अंदर कार्बन डायऑक्साइड को सोख पाने की क्षमता सीमित है और इसलिए वातावरण में उपस्थित कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा कम करने के लिए भी संभावनाओं की तलाश की जानी चाहिए। दूसरी शर्त है कि इन कार्बन-सोखता वनों की स्थापना और रख-रखाव से होने वाली आमदनी का बंटवारा सरकार और स्थानीय लोगों के बीच होना चाहिए। तीसरी शर्त है कि इन वनों की गिनती कार्बन सोखता

वनों के रूप में तभी की जानी चाहिए जब इनमें पाए जाने वाले पेड़ खाद्य-उत्पादक हों और स्थानीय लोग उनके उपयोग के लिए स्वतंत्र हों।

सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है कि क्या ये कार्यक्रम इस तरह लागू किए जाते हैं कि गरीबों के हाथों में अधिक साधन उपलब्ध होते हैं या फिर ये कार्यक्रम उनके साधनों में और भी कमी लाते हैं?

बढ़ता वैश्विक तापमान - दुनिया को गंभीर खतरा क्यों?

ग्रीनहाउस प्रभाव के कारण सूरज की इन्फ्रारेड किरणों पर्यावरण का तापमान बढ़ाती है। आज हमारे पर्यावरण का तापमान अपने सामान्य तापमान की तुलना में करीब 30 सेंटीग्रेड अधिक हो चुका है। अगर भूमंडल पर ग्रीनहाउस प्रभाव न होता तो इसका औसत तापमान वर्तमान 16° सेंटीग्रेड की बजाय -16° सेंटीग्रेड होता।

केवल कुछ ही गैसों वातावरण में ताप को कैद कर पाती हैं। उदाहरण के लिए सामान्य नाइट्रोजन और आक्सीजन ग्रीनहाउस प्रभाव पैदा नहीं करते। प्राकृतिक रूप से ग्रीनहाउस प्रभाव जलवाष्प के कारण पैदा होता है। ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाले अन्य गैस हैं - कार्बन डाईऑक्साइड (CO_2), मिथेन (CH_4), नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) तथा ओजोन (O_3)

जीवाश्म ईंधन के प्रयोग और जंगलों को काटकर कृषियोग्य भूमि में बदलने के कारण हर साल बड़ी मात्रा में कार्बन डाईऑक्साइड पैदा हो रहा है जिसके कारण वातावरण में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा काफी बढ़ रही है। इसके साथ ही कंक्रीट के उत्पादन और दलदली भूमि के विनाश के कारण भी थोड़ी मात्रा में कार्बन डाईऑक्साइड का उत्सर्जन होता है। पर्यावरण में लोगों के द्वारा भी नाइट्रस ऑक्साइड तथा मिथेन गैस का उत्सर्जन बढ़ाया जा रहा है। कई ऐसे ग्रीनहाउस गैसों को मनुष्य ने कृत्रिम रूप से बनाया भी है जो प्रकृति में नहीं पाए जाते। इन गैसों में सबसे प्रमुख है फ्रीऑन (Freon) या क्लोरोफ्लोरो-कार्बन (CFC) जो वातावरण की ऊपरी सतह में ओजोन-परत को नष्ट कर रहे हैं।

किस ग्रीनहाउस गैस का कितना प्रभाव होता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि गणना की समय-सीमा क्या है? अलग-अलग पदार्थों की आयुसीमा अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए मिथेन कम समय में ही अपने घटकों में टूट जाता है। अगर दस साल की अवधि ली जाए तो पर्यावरण को गर्म बनाने के हिसाब से 10 किलोग्राम मिथेन 1 टन कार्बन डायऑक्साइड के बराबर होता है। लेकिन अगले सौ साल के हिसाब से 10 किलोग्राम मिथेन 200 किलोग्राम कार्बन डाय-ऑक्साइड के समतुल्य होता है। आज के हिसाब से मानव द्वारा पैदा किए जा रहे ग्रीनहाउस प्रभाव में मिथेन करीब 50% का योगदान कर रहा है। लेकिन क्योटो-प्रोटोकॉल में

विभिन्न गैसों की पर्यावरण को गर्म करने की तुलनात्मक क्षमता का अध्ययन 100 साल की अवधि लेकर किया गया है।

सौ साल की अवधि के हिसाब से मानव-निर्मित वैश्विक तापमान वृद्धि में कार्बन डाय-ऑक्साइड का योगदान 55-60% के करीब है। यह वृद्धि ज्यादातर जीवाश्म ईंधन को जलाने के कारण पैदा हो रही है, मानव निर्मित वैश्विक तापमान वृद्धि में योगदान की दृष्टि से वनों के विनाश का हिस्सा $1/3$ से $1/7$ के बीच है।

100 साल की अवधि के हिसाब से मानव-निर्मित वैश्विक तापमान वृद्धि में मिथेन का योगदान 15-20% है। सन् 1800 की तुलना में पर्यावरण में मिथेन की मात्रा आज दुगुनी से ज्यादा हो चुकी है। प्राकृतिक दलदली क्षेत्र साल में करीब 17 करोड़ टन मिथेन पैदा करते हैं। सालाना धान के खेतों से करीब 11 करोड़ टन और पशुधन से करीब 8 करोड़ टन, कूड़े से 4 करोड़ टन, जंगलों और चारागाहों की आग से 4 करोड़ टन एवं गैस तथा कोयले की खुदाई से 8 करोड़ टन मिथेन पैदा होता है।

मानव निर्मित ग्रीनहाउस गैसों में CFC का योगदान करीब 25% हुआ करता था लेकिन अब इनका उत्पादन बंद हो चुका है। ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में नाइट्रस ऑक्साइड 6% योगदान करता है। मानव-निर्मित उत्सर्जन में नाइट्रोजन खाद 80 प्रतिशत का योगदान करता है। इस पर नियंत्रण के लिए आवश्यक है कि हम या तो प्राकृतिक विधियों से खेती करें या फिर नाइट्रोजन-खाद की कम हानिकारक किस्मों का इस्तेमाल करें। जब हम जल रहित या जलीय अमोनिया का इस्तेमाल करते हैं तो इसका करीब 5% हिस्सा वातावरण में नाइट्रस ऑक्साइड के रूप में उत्सर्जित हो जाता है। उदाहरणस्वरूप नाइट्रोजन-घोल या सोडियम-नाइट्रेट उतना नुकसानदेह नहीं होता क्योंकि अध्ययनों से पता चलता है कि इनका मात्र 0.05% हिस्सा ही नाइट्रस ऑक्साइड में बदलकर वातावरण में प्रवेश करता है।

चौथी बड़ी समस्या है ओजोन की जो वातावरण की निचली सतह को गर्म करती है। ट्रोपोस्फियर में पाए जाने वाले अधिकांश ओजोन का उत्पादन गाड़ी के धुएं और सूरज की रोशनी के बीच होने वाली प्रतिक्रिया से होता है।

पर्यावरण वैज्ञानिकों का कहना है कि कार्बन डाय-ऑक्साइड, मिथेन और अन्य ग्रीनहाउस गैसों के मानव-जन्य उत्सर्जन के कारण 21वीं सदी में धरती का औसत तापमान $1.5-6^0$ सेंटीग्रेड बढ़ सकता है। वैश्विक तापमान वृद्धि पर काम करने वाली लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक संस्था IPCC (*International Panel on Climatic Change*) के अनुसार अगले 500 वर्षों में वैश्विक तापमान वृद्धि के कारण समुद्र का जलस्तर 7 से 13 मीटर तक ऊपर उठ सकता है। आज अगर समुद्र का जलस्तर मात्र 10 मीटर ऊपर उठ जाता है तो 21 करोड़ वर्ग किलोमीटर

जमीन, जिसमें दुनिया की अधिकांश उपजाऊ जमीन शामिल है, जलमग्न हो जाएगी। दुनिया की आधी आबादी अपना घर खो देगी और अधिकांश बड़े शहर भी पानी में डूब जाएंगे।

समुद्र के जलस्तर में वृद्धि के दो कारण हैं समुद्री जल का गर्मी के कारण फैलाव और ग्रीनलैंड तथा पश्चिमी अंटार्कटिक हिमनदों का पिघलना। IPCC का कहना है कि ग्रीनहाउस गैसों के प्रभाव को नियंत्रित कर लेने के बावजूद आगे कई सदियों तक जल के तापीय-विस्तार (Thermal Expansion) के कारण समुद्र का जलस्तर बढ़ता रहेगा। तापीय विस्तार को समुद्र की तल तक पहुंचने में करीब 1000 साल लग सकते हैं लेकिन इस अवधि में समुद्र का जल-स्तर 4 मीटर तक ऊपर उठ चुका होगा।

IPCC वैज्ञानिकों का अनुमान है कि ग्रीनलैंड में तापमान में 2.7 सेंटीग्रेड वृद्धि इस हिम-चादर को अपरिवर्तनीय रूप से गला देगी। इसके कारण अगले 1 हजार वर्षों में समुद्रतल 7 से 8 मीटर तक ऊपर उठ सकता है।

कुछ शोधकर्ताओं का दावा है कि पश्चिमी अंटार्कटिक की हिम-चादर में भी असंतुलन के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। उपग्रहों से प्राप्त चित्रों से पता चला है कि पश्चिमी अंटार्कटिक की सबसे बड़ी हिमनद 'पाइन द्वीप हिमनद' से जिस मात्रा में बर्फ गल रही है वह हिमपात से पूरा नहीं हो पाएगा। अगर यह हिमनद वर्तमान गति से पिघलती रहेगी तो अगले 600 वर्षों में यह पूरी तरह समाप्त हो जाएगी और समुद्र का जलस्तर 5 मीटर तक बढ़ जाएगा। इसके अलावा जल के तापविस्तार और ग्रीनलैंड की हिमचादर के पिघलने के कारण तो समुद्र के जलस्तर में वृद्धि होगी ही।

भविष्य की यह तस्वीर अगर सच साबित होती है तो अगले हजार साल तक दुनिया की गरीबी का सबसे बड़ा कारण होगा समुद्र का बढ़ता हुआ जलस्तर। दुनिया की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा समुद्रतटीय क्षेत्र में रहने को मजबूर हो जाएगा। स्वाभाविक है कि तूफान और बाढ़ से ग्रस्त तटीय क्षेत्रों को छोड़कर समाज का समृद्ध और शक्तिशाली वर्ग बाकी बचे सुरक्षित इलाकों की उपजाऊ भूमि पर अधिकार कर लेगा। जैसे-जैसे समुद्र का जलस्तर बढ़ता जाएगा, गरीब आबादी बार-बार विस्थापित होगी, बेघर होगी और उनकी संपत्ति और साधन लगातार घटते जाएंगे। बंगलादेश में करीब 1 करोड़ लोगों की यही दशा हो चुकी है। ये लोग नदी के किनारे ऐसी जमीन पर रहने को बाध्य हैं जो हर साल अपनी धारा बदलती नदियों की चपेट में आती है। कई परिवारों को तो दसियों बार विस्थापित होना पड़ा है, अपने नए झोपड़े बनाने पड़े हैं जिसके कारण उनकी थोड़ी बहुत बचत भी पूरी तरह समाप्त हो चुकी है।

यह खतरा थोड़ी सी ऊँची जमीन के लिए भी मौजूद है। सूखे और बाढ़ का खतरा बढ़ जाएगा। अगर पृथ्वी का तापमान 5⁰ सेंटीग्रेड बढ़ जाता है तो भयंकर समुद्री तूफान और टाइफून की संभावना 10 गुणा ज्यादा हो जाएगी। इसके साथ ही बढ़े हुए तापमान और उसके कारण

चलने वाली तेज हवाओं के कारण विनाशकारी तूफानों से संभवित नुकसान भी 50-60% अधिक हो सकता है। यह उन देशों के लिए बुरी खबर है जिन्हें समुद्री तूफानों का खतरा बना रहता है। आज भी एक बड़ा समुद्री तूफान देश की अर्थव्यवस्था को कई दशक पीछे धकेल सकता है। बढ़ते वैश्विक तापमान के कारण होने वाले ये महा-समुद्री तूफान और भी भयंकर नुकसान कर सकते हैं।

समुद्र तल में वृद्धि के अलावा, बढ़ते वैश्विक तापमान के कारण उष्णकटिबंध और इसके ठीक नीचे के इलाकों के शुष्क होने का खतरा भी बढ़ सकता है। इन क्षेत्रों में बारिश की मात्रा तो बढ़ेगी लेकिन बढ़े तापमान के कारण वाष्पीकरण की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाएगी। एक अनुमान के अनुसार इन इलाकों में औसत तापमान 4⁰ सेंटीग्रेड बढ़ने के कारण बारिश में 12% की वृद्धि हो सकती है लेकिन वाष्पीकरण 30% अधिक होने की संभावना है। यदि हम उन किस्मों की खेती न करने लगे जिनमें पानी की जरूरत बहुत कम होती है तो इस प्रक्रिया के कारण कृषि उत्पादन में भारी कमी आने की संभावना है।

IPCC की दूसरी रिपोर्ट के अनुसार उष्णकटिबंध के शुष्क होने के कारण नील नदी में पानी की मात्रा 75% तक कम हो सकती है। मिस्र और उसके पड़ोसी देशों के लिए इसका परिणाम भयंकर हो सकता है। सिंधु सहित भारत, पाकिस्तान और चीन की नदियों पर भी बढ़े हुए वाष्पीकरण का दुष्प्रभाव पड़ने की संभावना है। IPCC के अनुसार सन् 2025 तक करीब 5 अरब लोगों को भयंकर जल संकट का सामना करना पड़ सकता है जिसमें बढ़ते वैश्विक तापमान का भी आंशिक योगदान होगा।

हिमालयी ग्लेशियरों के पिघलने का भी खतरा हमारे सामने मौजूद है। इन हिमनदों में इतना जल तो नहीं है कि उनके पिघलने से समुद्री जलस्तर बढ़ जाएगा, लेकिन कई अन्य कारणों से यह मुद्दा बहुत गंभीर हो जाता है। अगर हिमालय की बर्फ इसी प्रकार पिघलती रही तो एशिया के अधिकांश क्षेत्रों की जलापूर्ति प्रभावित होगी। सिंधु, गंगा, मेकोंग, यांगतसी और ह्वांगहो जैसी कई नदियां सूखे मौसम में अपने जल का बड़ा हिस्सा हिमालय के ग्लेशियरों से प्राप्त करती हैं।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अगले 35 साल में हिमालय के ग्लेशियरों का क्षेत्रफल 20% कम होकर एक लाख वर्ग किलोमीटर के करीब हो जाएगा। पिछले 50 वर्षों में ही हिमालय की 15000 हिमनदियां गायब हो चुकी हैं। गंगा की स्रोत हिमनद गंगोत्री 30 मीटर प्रतिवर्ष की दर से पीछे हट रही है। यह दर 1935-50 के बीच 18 मीटर प्रतिवर्ष और 1842-1935 के बीच 7 मीटर प्रतिवर्ष थी। पिंडारी हिमनद आज 135 मीटर प्रतिवर्ष की दर से पीछे हट रही है। भारतीय वैज्ञानिकों का अनुमान है कि सन् 2030 तक हिमालय से निकलने वाली कई नदियां जैसे गंगा, काली और सिंधु सूखे मौसम में सूख जाया करेंगी।

भविष्य की यह झलक खतरनाक दिखाई देती है क्योंकि दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया तथा चीन में भूगर्भीय जल भी बड़ी तेजी से समाप्त हो रहा है।

गर्मी में पनपने वाली कई उष्णकटिबंधीय बीमारियाँ भी बढ़ते तापमान के कारण दुनियां भर में फैलेंगी। उदाहरण स्वरूप वैश्विक तापमान वृद्धि के साथ ही मलेरिया की सबसे खतरनाक किस्म 'प्लाज्मोडियम फाल्सीपेरम' (Plasmodium Falsiparum) तथा सिस्टोसोमियासिस (Schistosomiasis) से संभावित संक्रमण का खतरा बहुत बढ़ जाएगा। फाल्सीपेरम मलेरिया के कारण आज भी प्रतिवर्ष 30 लाख लोगों की मौत हो जाती है। परिस्थिति और भी भयंकर होती जा रही है क्योंकि इस रोग के जीवाणुओं पर अधिकांश ज्ञात दवाओं का अब असर नहीं होता क्योंकि इनके अंदर दवाओं की प्रतिरोधक क्षमता पैदा हो चुकी है। इसके साथ ही, मच्छर जो इन जीवाणुओं को फैलाते हैं, भी कीटनाशकों के खिलाफ प्रतिरोधक क्षमता पैदा कर चुके हैं। करीब 25 करोड़ लोग आज सिस्टोसोमियासिस से ग्रस्त हैं। इनमें से कई स्थायी अपंगता के शिकार हो जाते हैं। अभी तक यह बीमारी एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में नहीं फैली है क्योंकि इस बीमारी के जीवाणु इन क्षेत्रों की सर्दियों में जिंदा नहीं रह पाते। लेकिन वैश्विक तापमान वृद्धि के साथ ही इस बीमारी का खतरा भी इस क्षेत्र को झेलना पड़ सकता है। IPCC के अनुसार जीवाश्म ईंधनों के जलने और जंगलों की कटाई के कारण उत्सर्जित ग्रीनहाउस गैसों के परिणामस्वरूप वैश्विक तापमान करीब 0.6⁰ सेंटीग्रेड बढ़ चुका है। पर्यावरण में हम जितना ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जित कर चुके हैं उसके अनुपात में यह तापवृद्धि मात्र 50% है।

IPCC का कहना है कि पर्यावरण में ग्रीनहाउस गैसों के बढ़ने से वैश्विक तापमान में थोड़ी वृद्धि होती है। लेकिन चूंकि समुद्र बहुत ही धीरे-धीरे गर्म होता है इसलिए ग्रीनहाउस गैसों के पूरे प्रभाव को दिखने में काफी लंबा समय लग जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि आज मानव उत्सर्जित सभी ग्रीनहाउस गैसों को हम पर्यावरण से निकाल भी लें तो वैश्विक तापमान में 0.6% सेंटीग्रेड की वृद्धि संभव है।

एक और भी खतरनाक संभावना है जिसे वैज्ञानिकों ने 'बेलगाम ग्रीनहाउस प्रभाव' (Runaway Green house effect) का नाम दिया है। अभी तक समुद्र, मिट्टी, दलदली क्षेत्र और जंगल ग्रीनहाउस गैसों के एक बड़े भाग को अपने अंदर जज्ब करते रहे हैं। इसके कारण वैश्विक तापमान वृद्धि काफी नियंत्रित रही है। लेकिन कई वैज्ञानिकों का सोचना है कि यदि पर्यावरण काफी गर्म हो जाता है तो यह स्वयं वैश्विक तापमान वृद्धि के दुश्चक्र को जन्म दे सकता है।

हैंडली सेंटर फॉर क्लाइमेट प्रेडिक्शन एंड रिसर्च में कार्यरत वैज्ञानिक पीटर कॉक्स और उनके सहयोगियों के अनुसार शुरूआत में पौधे पर्यावरण से कार्बन डाय-ऑक्साइड सोखते अधिक हैं। लेकिन बढ़ते तापमान के साथ पेड़ पौधों द्वारा सोखी जाने वाली कार्बन डाय-ऑक्साइड की मात्रा कम होती जाती है जबकि जैव पदार्थों के सड़ने गलने से पैदा होने वाली कार्बन

डाय-ऑक्साइड की मात्रा काफी बढ़ जाती है। पीटर कॉक्स और उनके सहयोगियों द्वारा विकसित मॉडल के अनुसार 2050 में बायोस्फेयर में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे और यह कार्बन डाय-ऑक्साइड सोखने की बजाय बड़ी मात्रा में कार्बन डाय-ऑक्साइड उत्सर्जित करने लगेगा। यह वैश्विक तापमान वृद्धि की गति को और भी तेज कर देगा। वैश्विक तापमान वृद्धि के परिणामस्वरूप मिट्टी से और अधिक मात्रा में कार्बन डाय-ऑक्साइड उत्सर्जित होने लगेगी।

इस दुश्चक्र के परिणामस्वरूप वैश्विक तापमान अपेक्षित तापमान से 2⁰ सेंटीग्रेड बढ़ सकता है। मिथेन-घन (Methane Clathrates) बर्फ की तरह की एक ऐसी संरचना होती है जिसके अंदर बर्फीले-पिंजड़े में मिथेन गैस फंसी रहती है। इसकी खोज सबसे पहले रूसी वैज्ञानिकों ने ध्रुवीय क्षेत्र के कुहरे में की थी लेकिन अब यह पता चला है कि मिथेन-घन तटवर्ती क्षेत्रों से दूर समुद्र में तथा महादेशीय ढलान की तलछट (Sediment) में भी पाया जाता है। मिथेन के इन भंडारों के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है लेकिन अनुमान लगाया जाता है कि समुद्रतट के आसपास वाले क्षेत्र में कम से कम 10,000 अरब टन और ध्रुवीय कुहरे में कम से कम 400 अरब टन मिथेन गैस फंसी हो सकती है। पर्यावरण में मौजूद मिथेन की तुलना में यह मात्रा 2000 गुणा अधिक है। कुछ अन्य अध्ययनों के मुताबिक मिथेन-घन की मात्रा इससे भी हजार गुणा अधिक हो सकती है जिसमें 1 करोड़ अरब टन मिथेन का भंडार हो सकता है। इसके अलावा समुद्रतल की 2 कि.मी. गहरी कीचड़ और दलदल वाली सतह में भी 15 करोड़ अरब टन जैविक कार्बन के भंडार होने की संभावना है।

मिथेन-घन के ये भंडार बर्फ-जमने के तापमान के आसपास ही अपरिवर्तनशील रहते हैं। यदि महादेशीय ढलान से बहने वाली समुद्री धारा गर्म हो जाती है तो बड़ी मात्रा में पर्यावरण में मिथेन का उत्सर्जन होगा जिसके भयंकर परिणाम हो सकते हैं। यह अपने आप में एक नए दुश्चक्र को भी जन्म दे सकता है। हालांकि मिथेन उत्सर्जन की निश्चित मात्रा का अनुमान नहीं लगाया जा पाया है, लेकिन रूसी वैज्ञानिकों ने साखालीन द्वीप के पास ओखोट्स्क सागर (Okhotsk Sea) में बड़े मिथेन विस्फोटों की सूचना दी है।

कुछ अन्य अध्ययनों के अनुसार आज से 5.5 करोड़ वर्ष पहले उत्तर पैलिओसीन (Late Paleocene) काल के अंत में वातावरण में हुई 8⁰ सेंटीग्रेड की वृद्धिके लिए भी तटीय समुद्र क्षेत्र में होने वाले मिथेन विस्फोट ही उत्तरदायी हैं। जीवाश्म अवशेषों से पता चलता है कि इस अवधि में धरती और समुद्र का तापमान काफी तेजी से बढ़ा था। इसके कारण समुद्र की तल में रहने वाले कई एककोशीय जीव नष्ट हो गए। इसके साथ ही जो जीव इस गर्मी को बर्दाश्त कर जिंदा बचे उनके बाह्य कवचों में हल्के कार्बन-12 समावयवी तत्वों (Isotopes) की मात्रा काफी बढ़ी हुई पायी गई। अनेक वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि इन हल्के कार्बन समावयवी तत्वों का स्रोत मिथेन-घन ही है।

नॉर्वे के ट्रॉम्सो विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने बैरेंट्स-सागर की तल में मिथेन-विस्फोटों के कारण बने हुए 700 मीटर चौड़े और 30 मीटर गहरे गड्ढों की खोज की है। सन् 1998 में शिरशोवइंस्टीट्यूटऑफऑशनोलॉजी में काम कर रहे रूसी वैज्ञानिकों ने नॉर्वे के पश्चिमी तट के पास समुद्र में अस्थिर जलीय क्षेत्र (Hydrate Fields) की खोज की है। ऐसा लगता है कि आज से 8000 साल पहले समुद्रतल में हुए स्टोरेगा-भूस्खलन, जिसमें 5600 घन किलोमीटर तलछट महादेशीय ढलान पर 800 कि.मी. तक लुढ़कता रहा, का कारण भी यही था। अगर समुद्री तापमान और भी बढ़ता है तो अन्य मिथेन-घन वाले क्षेत्र भी अस्थिर होकर भयंकर समुद्री तूफान 'त्सुनामी' (Tsunamis) पैदा कर सकते हैं जिनसे तटीय क्षेत्रों में भारी बर्बादी की आशंका है।

उत्तरी ध्रुव के आसपास प्रवाहित बर्फ जाड़े में 1.5 करोड़ वर्ग किलोमीटर और गर्मी में 70-80 लाख वर्ग किलोमीटर के करीब क्षेत्रफल घेरती है। प्रवाहित बर्फ की इस विशाल पट्टी से सूर्य के विकिरण का करीब 98% हिस्सा अंतरिक्ष में परावर्तित हो जाता है। खुला समुद्र विकिरण परावर्तित नहीं कर सकता और इसे सोख लेता है। यदि बर्फ से ढंका यह क्षेत्र सिकुड़ने लगता है तो उत्तरी गोलार्द्ध के गर्म होने की प्रक्रिया तेज हो जाएगी।

इसके अलावा भी कई ऐसी संभावनाएं हैं जो खतरनाक दुश्चक्रों को पैदा कर सकती हैं। अगर धरती का तापमान थोड़ा और बढ़ जाता है तो दलदली क्षेत्रों से होने वाला मिथेन उत्सर्जन भी कई गुणा बढ़ जाएगा। समुद्र के संचार-तंत्र (Circulatory System) में यदि कोई बाधा आती है तो पर्यावरण से कार्बन डाय ऑक्साइड सोखने की समुद्र की क्षमता कम हो जाती है और समुद्र के अंदरूनी हिस्से से पोषक तत्वों का ऊपर आना भी कम हो जाता है। पोषक तत्वों में कमी का दुष्प्रभाव प्लैंकटोन (Plankton) पर भी पड़ता है। इसका फिर पर्यावरण पर कई तरह से बुरा असर पड़ता है। कुछ प्लैंकटोन अपनी उपापचयी प्रक्रिया (Metabolism) के दौरान एक विशेष प्रकार का तत्व DMS (Dimethylsulphide) पैदा करते हैं। DMS एयरोसोल समुद्र के ऊपर बनने वाले मेघों के संघनन केंद्रक का सबसे महत्वपूर्ण कारण होता है। DMS के उत्पादन में कमी के परिणामस्वरूप बादलों का बनना कम हो सकता है और पर्यावरण के गर्म होने की प्रक्रिया और भी तेज हो सकती है।

बेलगाम ग्रीनहाउस प्रभाव की शुरूआत भी स्थानीय या क्षेत्रीयस्तर पर हो सकती है जो तेजी से दुनिया भर में फैलकर तबाही मचा सकती है। कुछ इलाकों में तापमान वृद्धि औसत से काफी अधिक हो सकती है तो कुछ क्षेत्रों में तापमान में कुछ सेंटीग्रेड की कमी भी आ सकती है। सल्फर-एरोसोल धुएं तथा अन्य प्रदूषक गैसों से पैदा हुए आच्छादन प्रभाव (Shadowing Impact) के कारण तापमान में कमी आने की भी संभावना है। उदाहरण के लिए तापमान वृद्धि के दुश्चक्र की शुरूआत किसी विशाल मिथेन-घन भंडार के अस्थिर होने के कारण हो सकती

है। ऐसा, उदाहरणस्वरूप, जापान के उत्तरी सागर में हो सकता है जहां तापमान 3⁰ सेंटीग्रेड तक बढ़ चुका है।

सन् 2001 में '*Intergovernmental Panel on Climate Change*' ने चेतावनी दी थी कि अगले पचास वर्षों में मिथेन उत्सर्जन 50 प्रतिशत बढ़ सकता है जबकि प्रदूषित कुहरे (Smog) को पैदा करने वाले रासायनिक पदार्थों जैसे कार्बन मोनो ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड और ओजोन की मात्रा दुगुनी/तिगुनी बढ़ सकती है। IPCC का कहना था कि यह खतरनाक हो सकता है क्योंकि भविष्य में इन प्रदूषणकारी गैसों का उत्सर्जन पर्यावरण की ऑक्सीकरण की क्षमता से काफी अधिक हो सकता है।

इसके पहले 1993 में अमेरिकी सरकार की संस्था 'नैशनल सेंटर फॉर एटमॉस्फेरिक रिसर्च', बोल्डर, कोलोराडो में कार्यरत साशा माड्रोनिक ने चेतावनी दी थी कि पर्यावरण का हाइड्रोक्सील रसायनतंत्र काफी अस्थिर है और इसमें ऐसी बेलगाम प्रतिक्रियाओं के बीज अंतर्निहित हैं जो हाइड्रोक्सील के स्तरों को पूरी तरह नष्ट कर सकती है। अगर पर्यावरण में प्रदूषकों की मात्रा बहुत बढ़ जाती है तो धीरे-धीरे हाइड्रोक्सील कम होने लगेंगे। एक बार हाइड्रोक्सील संतुलन बिगड़ जाने के बाद बाकी बचे हाइड्रोक्सील आयन की पर्यावरण में प्रवेश करने वाले प्रदूषक गैसों को साफ करने की क्षमता तेजी से घटती जाएगी। ऐसी स्थिति में हवा में मौजूद प्रदूषक तत्वों की मात्रा अत्यंत द्रुत गति से बढ़ने लगेगी और जल्द ही पूरी पृथ्वी प्रदूषित कुहरे से ढंक जाएगी।

जहाँ तक हमारी जानकारी है, यदि कारों, कारखानों और ताप विद्युत संयंत्रों से निकलने वाली कार्बन मोनोक्साइड, ओजोन तथा नाइट्रोजन ऑक्साइड गैसों इसी प्रकार बढ़ती रही और बढ़े वैश्विक तापमान के कारण विभिन्न महादेशों में जंगली और दलदली आग जारी रही तो वातावरण के हाइड्रोक्सील तत्वों में लगातार कमी का खतरा हमें झेलना पड़ सकता है।

गायब होती ओजोन परत

पारिस्थितिक लोकतंत्र के दृष्टिकोण से ओजोन परत के ह्रास और बढ़ते वैश्विक तापमान के परिणाम एक ही प्रकार के हैं। दोनों ही समस्याओं के लिए अधिकांशतः दुनिया की अमीर आबादी जिम्मेवार है जबकि इसका दुष्परिणाम पूरी दुनिया को भोगना होगा। ओजोन परत को नष्ट करने वाले अधिकांश पदार्थों का उत्पादन आज भी पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में होता है जहां दुनिया की आबादी का 1/8वां हिस्सा ही निवास करती है।

ओजोन में ऑक्सीजन के तीन परमाणु होते हैं। पर्यावरण के अंदर यह दो तरह का कार्य करता है। वातावरण के निचले हिस्से (ट्रोपोस्फियर) में ग्रीनहाउस गैस वैश्विक तापमान को बढ़ाने का काम करती है। यह मनुष्यों और पशुओं के लिए जहरीली भी होती है। लेकिन

वातावरण की ऊपरी सतह (स्ट्रैटोस्फेयर) में ओजोन की यह पतली परत सूरज की रोशनी में पायी जाने वाली खतरनाक पराबैंगनी किरणों (Ultra-violet rays) को सोखकर पृथ्वी पर आने से रोक लेती है। ओजोन परत की इस सुरक्षा के बिना हमें तेज और खतरनाक पराबैंगनी किरणों का सामना करना पड़ सकता है। इन किरणों के कारण त्वचा कैंसर और मोतियाबिंद जैसी बीमारियों का खतरा तो बढ़ेगा ही, कई फसलें भी नष्ट हो सकती हैं। ओजोन परत में यदि गंभीर नुकसान हुआ तो इसका प्रभाव मछलियों की आपूर्ति पर भी पड़ेगा क्योंकि मछली के अंडे तेज पराबैंगनी किरणों को बर्दाश्त नहीं कर पाते।

1970 के दशक के प्रारंभ में वैज्ञानिक इस बात से चिंतित थे कि खाद से पैदा होने वाली नाइट्रस ऑक्साइड, ध्वनि की गति से भी तेज चलने वाले हवाई जहाजों और अंतरिक्ष-यानों से स्ट्रेटोस्फेयर की ओजोन परत नष्ट हो सकती है। कुछ समय बाद पता चला कि फ्रीऑन या CFC (Chloro Fluoro Carbon) भी ओजोन परत को नुकसान पहुँचा सकते हैं। शुरुआत में CFC का प्रयोग रेफ्रिजरेटर और वातानुकूलन संयंत्रों में किया जाता था। बाद में इसका प्रयोग सफाई करने वाले रसायन एरोसोल-प्रेरक (Aerosol Propellant), हैम्बर्गर लपेटने के लिए प्रयुक्त पॉलीस्टीरीन फोम को फुलाने आदि के लिए भी किया जाने लगा। सन् 1940 में इनका उत्पादन 2200 टन था जो 1970 में बढ़कर 4,91,700 टन हो गया। जब तक इस बात का पता चला कि CFC न केवल शक्तिशाली ग्रीनहाउस गैस है बल्कि ओजोन परत को भी नष्ट करते हैं तबतक इनका उत्पादन 20% प्रतिशत की दर से बढ़ रहा था।

1982 में ब्रिटिश वैज्ञानिकों द्वारा अंटार्कटिक के ऊपर ओजोन परत में एक बड़े छेद की खोज के 5 साल बाद ही इस मुद्दे को गंभीरता से लिया जाना शुरू हुआ। इस विलंब का कारण था एक अमेरिकी उपग्रह जिसके कंप्यूटर में 'असंभव परिणामों' को नजरअंदाज करने की प्रोग्रामिंग थी। इसके कारण यह उपग्रह 'ओजोन छिद्र' को नहीं देख पाया और ब्रिटिश वैज्ञानिकों के खोज की पुष्टि नहीं की जा सकी। इस भ्रामक स्थिति को दूर होने में 5 वर्ष का समय लग गया। उस समय तक अंटार्कटिक ओजोन छिद्र का क्षेत्रफल बढ़कर 1.4 करोड़ वर्ग किलोमीटर हो चुका था। वसंत के महीने में इस छिद्र के कारण स्ट्रेटोस्फेयर में पाया जाने वाला ओजोन करीब-करीब पूरी तरह समाप्त हो जाता था।

अंटार्कटिक ओजोन छिद्र की पुष्टि के बाद दुनिया भर की सरकारें बहुत तेजी से सक्रिय हुईं। सन् 1987 में ओजोन परत का नष्ट करने वाले तत्वों के बारे में मॉंट्रियल प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर किए गए। इस प्रोटोकॉल पर दस्तखत करने वाली सरकारों ने CFC उत्सर्जन को नियंत्रित करने पर सहमति जाहिर की। आगे के कुछ और वर्षों में विभिन्न सरकारों ने और भी महत्वाकांक्षी योजनाएं अपनायीं और अंततः ओजोन परत को नष्ट करने वाले तत्व, CFC आदि के उत्पादन को समाप्त करने पर सहमति हो गयी। अमरीका के 'एनवायरनमेंटल प्रोटेक्शन एजेंसी' के अनुसार इन संधियों के कारण अनुमानतः 2075 ई. तक 13.7 करोड़ लोगों को चमड़े के

कैंसर और 4 करोड़ लोगों को मोतियाबिंद से बचाया जा सकेगा। निश्चय ही यह मानवता और पर्यावरण के लिए एक बड़ी जीत है।

लेकिन अभी भी नाइट्रोजन-खाद एवं जीवाश्म ईंधन से पैदा होने वाली नाइट्रस ऑक्साइड गैस की समस्या मौजूद है। संयुक्त राष्ट्र संघ की 'इंटरगवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज' के अनुसार पर्यावरण में नाइट्रस ऑक्साइड की मात्रा सन् 2100 ई. तक 45% तक बढ़ सकती है। ऑस्ट्रेलिया की शोध-संस्था CSIRO के अनुसार CFC का उत्पादन बंद होने के कारण, मध्य अक्षांस (Mid Latitude) के ऊपर पाए जाने वाले ओजोन-परत की छिद्र में थोड़ी कमी आ सकती है। लेकिन 2040 ई. के आसपास पर्यावरण में नाइट्रस-ऑक्साइड की बढ़ती मात्रा के कारण ओजोन-छिद्र फिर से बढ़ने लगेगा। CSIRO का अनुमान है कि ध्रुवीय प्रदेशों के ऊपर पायी जाने वाली ओजोन परत सदी के अंत तक 9% सिकुड़ चुकी होगी। इसके सिकुड़ने की दर आगे और तेज होने की संभावना है।

यदि इस पर अभी से ध्यान न दिया जाए तो ओजोन-परत का यह खतरा CFC से होने वाले खतरे से भी ज्यादा नुकसानदेह हो सकता है। क्लोरीन और ब्रोमीन के यौगिकों द्वारा ओजोन की परत में होने वाला नुकसान प्रायः मध्य-जाड़े में होता है। इस मौसम में उत्तरी गोलार्द्ध में सूरज की रोशनी कम होती है और ठंड के कारण लोग अपने शरीर को कपड़ों से ढँके रहते हैं। लेकिन नाइट्रस-ऑक्साइड जनित ओजोन-परत को होने वाला नुकसान प्रायः मध्य-गर्मियों में होता है जब पराबैगनी किरणों का प्रभाव अपने शिखर पर होता है और लोगों के शरीर पर काफी कम कपड़े होते हैं। नाइट्रस ऑक्साइड से होने वाला नुकसान भी मध्य-अक्षांस (Mid-Latitude) पर अधिक संभावित है जहाँ दुनिया की अधिकांश आबादी निवास करती है न कि ध्रुवीय क्षेत्र में।

संभव है कि भविष्य में होने वाले पर्यावरण संबंधी समझौतों के अंदर नाइट्रस ऑक्साइड एक बड़े मुद्दे के रूप में सामने आएगा। इस समस्या से निबटने के लिए आवश्यक है कि प्राकृतिक खेती (organic farming) को बढ़ावा दिया जाय या फिर नाइट्रोजन उर्वरकों की ऐसी किस्में विकसित की जाएं जिनसे अधिक मात्रा में नाइट्रस ऑक्साइड का उत्सर्जन न होता हो।

आजकल प्रयोग में लाए जाने वाले निर्जलीय या जलीय अमोनिया खाद सोडियम नाइट्रेट या नाइट्रोजन-घोल जैसे वैकल्पिक खाद की तुलना में 100 गुणा से भी ज्यादा नाइट्रस ऑक्साइड उत्सर्जित करते हैं।

ग्राम स्वराज: २१वीं सदी के लिए आधुनिक स्थानीय अर्थव्यवस्था

वैश्विक तापमान वृद्धि की समस्या के समाधान के लिए जरूरी है कि जीवाश्म ईंधन से हटकर जैव-ईंधन (Biofuel), पवन ऊर्जा, सौर ऊर्जा, भूगर्भतापीय ऊर्जा (Geothermal Energy) तथा

जलतापीय ऊर्जा (Hydrothermal Energy) के उपयोग को बढ़ावा दिया जाए। इसके अलावा हमें 'विश्व बाजार' की अवधारणा से भी दूर हटना होगा और एक महादेश से दूसरे महादेश के बीच समुद्री जहाजों या हवाई जहाजों से ढोकर सामान भेजने की मात्रा को भी नियंत्रित करना होगा। हमें एक बार फिर स्थानीय उत्पादन के महत्व को समझना होगा। अपनी स्थानीय अर्थव्यवस्था को हमें इस प्रकार पुनर्गठित करना होगा कि हमारी अधिकांश आवश्यकताओं, जैसे भोजन, कपड़ा आदि का उत्पादन यथासंभव स्थानीय स्तर पर ही किया जा सके।

इसका अर्थ होगा कि हमें गाँधीजी के ग्राम स्वराज की अवधारणा को गंभीरता से लेना होगा, हाँ यह ग्राम स्वराज थोड़ा आधुनिकीकृत और मजबूत अवश्य होगा। परंपरागत आँकड़ों के अनुसार औद्योगिक राष्ट्रों के अंदर परिवहन क्षेत्र में जीवाश्म ईंधन का 1/3 हिस्सा खर्च होता है। लेकिन स्पेन में किए गए एक अध्ययन के अनुसार यदि परिवहन क्षेत्र के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उपयोग में लायी जाने वाली ऊर्जा की गणना की जाए तो इस क्षेत्र में कुल जीवाश्म ईंधन का 50% खर्च होता है। इस अध्ययन में परिवहन क्षेत्र से संबंधित अप्रत्यक्ष जीवाश्म ईंधन उपयोग करने वाली गतिविधियों में कार, हवाईजहाज, पानी के जहाज और ट्रेन को बनाने, बंदरगाह, हवाई अड्डे, सड़क, बहुमंजिली कार-पार्किंग के निर्माण और पैकिंग के लिए जरूरी पदार्थों के उत्पादन को भी शामिल किया गया था।

पिछले चालीस वर्षों में परिवहन के कारण होने वाले ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में काफी वृद्धि हुई है। इसका कारण यह नहीं है कि वस्तुओं का उपभोग बढ़ गया है बल्कि अब उतनी ही चीजें ढोकर अधिक दूर तक पहुँचायी जा रही हैं। इसके पीछे कारण है उत्पादन का केंद्रीकरण जिसके परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Unemployment) भी पैदा हो रही है। ब्रिटेन में 1952-92 के बीच भार-टन प्रति मील (freight-ton mile) तीन गुणा बढ़ गया जबकि इसी अवधि में अधिकांश जिन्सों का उत्पादन कम हो गया।

हमारी 'आर्थिक इकाई' या 'मुक्त व्यापार क्षेत्र' जितना ही बड़ा होता जाएगा, उसी मात्रा में वस्तुओं की औसत परिवहन दूरी भी बढ़ती जाएगी। अमेरिका आज के विश्व में एकमात्र महादेशीय इकाई है जिसका अस्तित्व 'मुक्त व्यापार क्षेत्र' के रूप में थोड़े लंबे समय से रहा है। यह महज एक संयोग नहीं है कि अमेरिका में प्रतिव्यक्ति कार्बन डाय-ऑक्साइड उत्सर्जन की मात्रा जापान या पश्चिमी यूरोप की तुलना में तीन गुणा अधिक है। अमेरिका द्वारा प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति 6 टन कार्बन का उत्सर्जन किया जाता है।

अगर दुनिया आज वैश्विक मुक्त व्यापार क्षेत्र बन जाए जहां वस्तुओं का उत्पादन उसी स्थान पर हो जहां लागत न्यूनतम हो और फिर उसे ढोकर दुनिया के दूसरे हिस्से में ले जाया जाए तो मानवता द्वारा पैदा की जा रही कार्बन डाय-ऑक्साइड की मात्रा कई गुणा बढ़ जाएगी। इस स्थिति में ग्रीनलैंड की बर्फ को पिघलने या भूमध्य क्षेत्र को सूखने से कोई नहीं बचा सकता।

दूसरी तरफ यदि हम अपने देशों को नव-उदारवादी मुक्त व्यापार नीतियों के पागलपन से रोक सकें तो हम कार्बन डाय-ऑक्साइड के उत्सर्जन को काफी नियंत्रित कर सकते हैं। स्थानीय अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने और कृषि, वानिकी, मत्स्यपालन, हस्तशिल्प और ग्रामोद्योग को बढ़ावा देने से भी इस प्रक्रिया को बल मिलेगा।

ताजे आँकड़ों के अनुसार वैश्विक कार्बन डायऑक्साइड उत्सर्जन में सीमेंट उत्पादन का योगदान 7% है। सीमेंट उत्पादन की प्रक्रिया में कार्बन डायऑक्साइड का उत्पादन दो प्रकार से होता है। कच्चे माल (चूना पत्थर या कैल्शियम कार्बोनेट) को सीमेंट (कैल्शियम-ऑक्साइड) में बदलने की प्रक्रिया में बड़ी मात्रा में कार्बन डायऑक्साइड उत्सर्जित होता है। इसके अलावा चूना पत्थर को भूने के लिए भट्टों को 1450⁰ सेंटीग्रेड तक गर्म करना होता है। इसके लिए भी काफी मात्रा में कोयला जलाने की आवश्यकता होती है।

आज दुनिया में प्रतिवर्ष 1-4 अरब टन सीमेंट का उत्पादन होता है जो 5% प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रहा है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कई देशों में जैसे-जैसे लोग गांव से शहर की ओर भाग रहे हैं वैसे ही सीमेंट का उत्पादन भी बढ़ रहा है। लंदन स्थित 'वेरिफिकेशन टेक्नोलॉजी इन्फोर्मेशन सेंटर' के जॉन लांचबेरी के अनुसार जल्द ही सीमेंट उद्योग वैश्विक कार्बन डाय-ऑक्साइड उत्सर्जन में 10% योगदान करने लगेगा।

इसका एक विकल्प है सीमेंट की जगह बाँस, लकड़ी और मिट्टी या इनसे बने पदार्थों का अधिक से अधिक इस्तेमाल। गाँधीजी भी घर बनाने के लिए मिट्टी या मिट्टी के ईंटों के इस्तेमाल पर जोर देते थे। मिट्टी से बने घर जाड़े में कम ठंडे होते हैं और गर्मी में कम गर्म। इसके कारण घर को गर्म या ठंडा करने की आवश्यकता घट जाती है। कंक्रीट की तुलना में मिट्टी सस्ती है और मिट्टी के ईंट बनाने में सौर ऊर्जा या लकड़ी का इस्तेमाल होता है जो कार्बन डायऑक्साइड उत्सर्जन नहीं करते।

भारत के परंपरागत घर केवल मिट्टी से नहीं बनाए जाते थे। मिट्टी के साथ पेड़ की टहनियों आदि को मिलाकर ये घर बनाए जाते थे। ये घर अद्भुत रूप से मजबूत होते थे। सन् 2001 में गुजरात में आए भूकंप में करीब एक लाख लोग मारे गए और 50 लाख लोगों के घर बर्बाद हो गए। कई इलाकों में सिर्फ परंपरागत ढंग से बनाए गए घर ही इस आपदा को झेल पाए। उदाहरणस्वरूप कच्छ जिले के लुडिया गाँव में जहाँ बाकी सभी घर ध्वस्त हो गए, मिट्टी और लकड़ी को मिलाकर बनाए गए परम्परागत गोल-आकृति वाले घरों का बाल-बाँका न हुआ। लेकिन दूसरी ओर गोल-आकृति वाले ऐसे घर जो मिट्टी और पत्थर को मिलाकर बनाए गए थे और सिर्फ आकार में परंपरागत थे इस भूकंप को झेल नहीं पाए।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि गाँधीजी के ग्राम-गणराज्यों की परिकल्पना काफी हद तक वैश्विक तापमान वृद्धि की समस्या का समाधान कर सकती है।

जनता की मिलिक्यत वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ

कई ऐसी तकनीकें उपलब्ध हैं जिनसे हम ग्रामीण समुदाय पर्यावरण में उत्सर्जित ग्रीनहाउस गैसों को तो कम कर ही सकते हैं साथ ही साथ अपने आर्थिक और जीवन स्तर में भी गुणात्मक सुधार कर सकते हैं।

लेकिन कभी कभी 'बड़ा भी सुंदर' हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में ऊर्जा उत्पादन के मामले में हम संकर-तकनीकों के बारे में विचार कर सकते हैं। संकर-तकनीकों का अर्थ है ऐसी तकनीकें जिसका एक हिस्सा तो बड़ी फैक्ट्रियों में पैदा किया जाता है लेकिन इसके बावजूद ये स्थानीय अर्थव्यवस्था को मजबूत कर सकती हैं और अधिक विकेंद्रीकृत उत्पादन ढाँचे को भी जन्म दे सकती है।

उदाहरण के लिए ग्रामीण स्तर पर अच्छी गुणवत्ता के स्टर्लिंग इंजन या आधुनिक पवन-चक्कियों को बना पाना बहुत ही खर्चीला और मुश्किल होगा। यह उचित होगा कि ऐसी तकनीकों का उत्पादन बड़ी फैक्ट्रियों में किया जाए जहां इनका बड़े पैमाने पर उत्पादन कम लागत पर किया जा सकता है। अक्षय ऊर्जा तकनीकों के इस केंद्रीकृत उत्पादन से बड़े पैमाने पर रोजगार तो पैदा नहीं किया जा सकता लेकिन अगर इन पर आधारित ऊर्जा उत्पादन विकेंद्रीकृत होगा तो कुल मिलाकर रोजगार में वृद्धि ही होगी।

बड़े डैम या नाभिकीय अथवा कोयला आधारित ऊर्जा उत्पादन की तुलना में अक्षय ऊर्जा स्रोत प्रति इकाई ऊर्जा 5-10 गुणा अधिक रोजगार पैदा करते हैं। केंद्रीकृत ऊर्जा उत्पादन की इन प्रक्रियाओं को अपनाने से विभिन्न ग्रामीण अर्थव्यवस्थाओं में लाखों-करोड़ों पूर्णकालिक या अंशकालिक रोजगार के अवसर पैदा होंगे।

फिनलैंड की सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों से संबद्ध ट्रेड-यूनियनों ने नवंबर 2000 में सरकारी कंपनियों के निजीकरण को बंद करने का प्रस्ताव किया। उनका कहना था कि सार्वजनिक क्षेत्र की इन कंपनियों को पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ विकास के मॉडल के तौर पर विकसित किया जाना चाहिए। इस पहल को आधार बनाकर फिनलैंड में 'वसुधैव कुटुंबकम नेटवर्क' से संबंधित पर्यावरण संस्थाओं तथा ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं ने कुछ विस्तृत प्रस्ताव भी पेश किए हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण नयी सोच है अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजकीय कंपनियों की स्थापना।

सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों के निजीकरण के पक्ष में तर्क दिया जाता है कि ये कंपनियाँ वैश्विक अर्थव्यवस्था की प्रतियोगिता में नहीं टिक पाएंगी। कहा जाता है कि निजी बहुराष्ट्रीय

कंपनियाँ वैश्विक स्तर पर काम करती हैं, इसलिए यदि सरकारी कंपनियों का निजीकरण नहीं हुआ तो उन्हें घाटा होगा और वो बंद हो जाएंगी। लेकिन यदि सरकारी कंपनियाँ साथ मिलकर काम करने लगेँ और दूसरे देशों की सरकारी कंपनियों के साथ मिलकर एक बहुराष्ट्रीय नेटवर्क बना सकें तो उन्हें वो सारे लाभ मिल पाएँगे जो वैश्वीकरण के कारण निजी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सरकारी कंपनियों की तुलना में निजी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को प्राप्त अनुचित लाभ एवं प्रतियोगी बढ़त भी समाप्त हो जाएगी।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सरकारी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की स्थापना के द्वारा सरकारी और निजी क्षेत्र वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा जनसेवा क्षेत्र (Public Service Sector) को उत्तरी-अमरीकी पूँजीवाद के बर्बर हमले से बचाया जा सकेगा। दुनियाँ के अधिकांश देश मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले हैं। ऐसा देखा गया है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रदर्शन अर्थव्यवस्था के अतिवादी मॉडल, (चाहे वह निजी क्षेत्र को पूरी तरह समाप्त करने वाला मॉडल हो जैसा रूस या पॉलपॉट ने कम्बोडिया में अपनाया या फिर सरकारी/सार्वजनिक, और जनसेवा क्षेत्र को पूरी तरह समाप्त करने का मॉडल हो जिसकी तरफ आजकल अमरीका तेजी से बढ़ रहा है) से प्रायः बेहतर रहा है।

बायोगैस तकनीक में सहयोग इसका एक महत्वपूर्ण कार्यक्षेत्र हो सकता है। वैश्विक तापमान वृद्धि को नियंत्रित करने और नाभिकीय ऊर्जा के वैश्विक नवीकरण की प्रक्रिया को रोकने की दिशा में बायोगैस टेक्नोलॉजी सबसे महत्वपूर्ण कदम हो सकता है। भारत और चीन विकेंद्रीकृत बायोगैस टेक्नोलॉजी के विकास और प्रसार में सबसे आगे रहे हैं लेकिन उन्होंने भी इस तकनीक की संभावनाओं का पूर्ण दोहन नहीं किया है।

मिथेन (प्राकृतिक गैस या बायोगैस) भविष्य की ऊर्जा-व्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा होगा। कार उत्पादकों और बड़ी तेल कंपनियों की भविष्य की परिकल्पना 'हाइड्रोजन अर्थव्यवस्था' पर टिकी है। फोर्ड, जनरल मोटर्स, डैमलर क्राइसलर, बी.एम.डब्ल्यू., टोयोटा, निसन और होंडा ऐसे कारों के निर्माण में जुटी हैं जो ईंधन के रूप में हाइड्रोजन का उपयोग करेंगी। डैमलर क्राइसलर ने अनुमान लगाया है कि 2020 ई0 तक 25 करोड़ कारें हाइड्रोजन ईंधन का इस्तेमाल करने लगेंगी। बी.एम.डब्ल्यू. के अनुमान के अनुसार सन् 2020 तक इसके द्वारा बेची गयी कारों में एक तिहाई हाइड्रोजन ईंधन से चलने वाली हुआ करेंगी।

शेल, टेक्साको और बी.पी. एमोको जैसी तेल कंपनियों का भी कुछ ऐसा ही सोचना है। वो मानते हैं कि वैश्विक तापमान वृद्धि एक वास्तविक समस्या है और यदि विश्व अर्थव्यवस्था इसी गति से विकसित होती रही तो उपयोग में आने के लायक तेल के भंडार शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगे। एक अनुमान के अनुसार तेल कंपनियाँ प्रत्येक चार लीटर तेल के उपभोग के बदले मात्र एक लीटर तेल की खोज कर पा रही हैं। इसका अर्थ यह है कि जल्द ही तेल और गैसोलीन की कीमतें आसमान छूने लगेंगी।

हाइड्रोजन का उत्पादन जीवाश्म ईंधन, बायोमास या मिथेन (जीवाश्म, प्राकृतिक गैस या बायोगैस) के द्वारा या फिर इलेक्ट्रोलाइसिस विधि द्वारा जल को हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में तोड़कर किया जा सकता है। लेकिन इलेक्ट्रोलाइसिस के लिए भी बिजली की जरूरत होती है जिसका उत्पादन प्राप्त हाइड्रोजन को जलाकर या फिर किसी अन्य विधि से किया जाना होगा। एक दूसरी समस्या यह है कि हाइड्रोजन के संग्रह में भी काफी ऊर्जा का व्यय होता है। इन कारणों से इस बात की संभावना अधिक है कि मिथेन का उत्पादन और संग्रह हाइड्रोजन की तुलना में कम खर्चीला होगा। इसलिए यह भी संभावित है कि भविष्य में कार, लॉरी, बस, पानी के जहाज और हवाई जहाज के लिए मुख्य ईंधन के रूप में मिथेन का इस्तेमाल होगा। शासद बिजली और ताप के उत्पादन में भविष्य में मिथेन की बड़ी भूमिका होगी।

चूँकि मिथेन का प्रयोग सुविधाजनक होता है इसलिए विश्व के कई औद्योगिक राष्ट्रों में ताप और विद्युत के उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा मिथेन पर आधारित है। कोयला, लकड़ी या तेल के विपरीत मिथेन के जलने से स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाने वाले अति-सूक्ष्म कणों का उत्सर्जन नहीं होता है। कुछ लोगों का मानना है कि ऊर्जा के स्रोत के रूप में मिथेन का भविष्य नहीं है क्योंकि प्राकृतिक गैस के भंडार जल्द ही समाप्त होने वाले हैं। लेकिन वर्तमान जीवाश्म ईंधन के सुरक्षित भंडार को मिथेन के रूप में ही व्यावसायिक रूप से सफलतापूर्वक उपयोग में लाया जा सकता है।

अनुमान लगाया जाता है कि विश्व में तेल का सुरक्षित भंडार करीब 200 अरब टन है। यह अपने आप में पर्यावरण-असंतुलन पैदा करने में सक्षम नहीं है। दुर्भाग्यवश कोयले का भंडार 1000 अरब टन है जिसकी खुदाई कर उपयोग में लाया जा सकता है। तेल के भंडार की तुलना में यह 5 गुणा अधिक है। लेकिन 'भूमिगत कोयला गैसीकरण (Underground Coal Gassification) तकनीक का इस्तेमाल कर भूगर्भ में बहुत गहरे दबे कोयले का उपयोग आर्थिक रूप से संभव है। UCG तकनीक के आधार पर व्यावसायिक रूप से उपलब्ध कोयले का भंडार कम से कम 7000 अरब टन होता है। कोयले का यह भंडार पर्यावरण संतुलन और ग्लेशियरों के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

UCG तकनीक का विकास 1930 के दशक में सोवियत संघ के उजबेकिस्तान में किया गया था। 1950 के दशक में अमेरिका ने UCG की एक ऐसी तकनीक के विकास का प्रयत्न किया जिसमें परमाणु-बमों के उपयोग के द्वारा कोयले को गैसीकृत किया जाता है। लेकिन पाया गया कि इस विधि से प्राप्त गैस की रेडियोधर्मिता इतनी अधिक थी कि 'प्लोशेयर' नामक इस कार्यक्रम को अंततः बंद करना पड़ा। लेकिन एक बार फिर अमेरिका, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया थोड़ी बेहतर तकनीक के साथ UCG कार्यक्रम शुरू करने की सोच रहे हैं। आस्ट्रेलिया की एक कंपनी तो UCG तकनीक द्वारा उत्पादित मिथेन आर्थिक रूप से प्रतियोगी दरों पर बेच रही है।

लेकिन मिथेन का उत्पादन बैक्टीरिया की मदद से जैविक कचड़े को सड़ाकर भी किया जा सकता है। भारत और चीन में ऐसे लाखों बायोगैस संयंत्र हैं जिनसे गाँव भर के लिए रसोई बनाने के गैस और बिजली उत्पादन का काम लिया जा रहा है। इस प्रकार के कार्यक्रमों को और भी विकसित करने की जरूरत है ताकि गोबर, पाखाना, घरेलू कचरा, रद्दी-कागज और फसलों के अवशेष से बायोगैस बनायी जा सके। उदाहरण के लिए उपले जलाने की बजाय गोबर से बने बायोगैस का उपयोग बेहतर है क्योंकि बायोगैस के जलने से खतरनाक कणों का उत्सर्जन नहीं होता। इसके अलावा गोबर को जलाने या कंपोस्ट बनाने की प्रक्रिया में नाइट्रोजन पर्यावरण में वाष्पीकृत हो जाता है और इस प्रकार कीमती उर्वरक नष्ट होता है। बायोगैस बनाने की प्रक्रिया में गोबर में मौजूद पोषकतत्व बायोगैस संयंत्र की पेंदी में जमा हो जाते हैं और गैस का उपयोग जलाने में हो जाता है। दूसरे शब्दों में बायोगैस संयंत्र भी प्राकृतिक-खाद की छोटी-मोटी फैक्ट्रियों का ही काम करते हैं।

उत्तरी गोलार्द्ध के राष्ट्रों में स्वीडन ने बायोगैस संबंधी सबसे महत्वाकांक्षी परियोजनाएं बनायी हैं। स्वीडन शहरी-कचरे से बायोगैस का उत्पादन कर रहा है जो कार ईंधन, शहर के ताप और ऊर्जा संयंत्रों को चलाने का कार्य भी कर रहा है। स्वीडन की आबादी करीब 85 लाख है। बड़े देशों में शहरी कचरे से और अधिक मात्रा में बायोगैस का उत्पादन संभव है।

इसके अलावा बायोगैस का उत्पादन पौधों द्वारा भी किया जा सकता है। समुद्री झाड़ियों, जलकुंभी (Water Hyacinths) और एककोशीय शैवाल (Algi) की मदद से बायोगैस बनायी जा सकती है। पानी में पैदा होने वाले पौधे जमीन पर पैदा होने वाले पौधों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ते हैं। उदाहरण के लिए यदि नियमित रूप से कटाई हो तो समुद्री झाड़ी 'मैक्रोसिस्टिस' (Macrosystis) 130 सेटीमीटर प्रतिदिन की रफ्तार से बढ़ सकती है। इसका अर्थ है कि इनके द्वारा प्रति हेक्टेयर विशाल मात्रा में जैविक बायोमास पैदा किया जा सकता है। ताजे पानी में पैदा होने वाले कुछ पौधे भी बहुत तेजी से बढ़ते हैं। जलकुंभी की उष्णकटिबंधीय कुछ किस्मों का वजन प्रति हेक्टेयर प्रतिदिन 25 टन (जल-सहित) या 800 कि.ग्रा. (शुष्क) तक बढ़ सकता है। इस पौधे में औसतन 69% मिथेन पाया जाता है और इसमें प्रति घनमीटर ऊर्जा की मात्रा 22,000 किलोजूल होती है।

जमैका में एक कोशीय शैवाल 'क्लोरेला' के साथ किए गए प्रयोगों में पाया गया कि 7.5-10 हेक्टेयर क्षेत्रफल वाले तालाब से 2.5 मेगावाट बिजली पैदा की जा सकती है। एककोशीय शैवाल, जिनकी कई किस्में खारे जल में भी पैदा होती है, की बायोमास उत्पादन क्षमता 'विलेस्कोपिसेस' की तुलना में 150-200 गुणा अधिक होती है। ब्राजील में ऊर्जा-उत्पादन पर सब्सिडी हटा लेने के बाद बेंजीन की अपेक्षा ईंधन अल्कोहल 25-30% सस्ता हो गया। ईंधन अल्कोहल के उत्पादन के लिए बायोगैस की तुलना में बेहतर कच्चे पदार्थ, मंहगे

यंत्र, श्रमसाध्य उत्पादन प्रक्रिया और अधिक मात्रा में बाहरी ऊर्जा की जरूरत होती है। इसीलिए बड़ी मात्रा में बायोगैस का उत्पादन बाजार की प्रतियोगी दरों पर करना संभव है।

मीठे जल या खारे जल वाले तालाबों में एककोशीय शैवाल, समुद्री झाड़ी या जलकुंभी जैसे पौधों के द्वारा भी बायोगैस का आसानी से उत्पादन किया जा सकता है। ये तालाब या तो तटीय क्षेत्रों में या फिर अमेजन या इसकी सहायक नदियों की घाटियों में बनाए जा सकते हैं। एक बार जब ये पौधे जलीय पोषक तत्वों को समाप्त कर पूरे तालाब में फैल जाते हैं तो इनमें ढंक दिया जाता है ताकि इसमें हवा प्रवेश न करे। इन परिस्थितियों में अवायवीय बैक्टीरिया (anaerobic bacteria), जिन्हें ऑक्सीजन की जरूरत नहीं होती, इन पौधों को सड़ाकर गैस बनाती है जिसमें करीब 70% मिथेन होती है। इस गैस को जमा करने के बाद इन तालाबों को फिर से खोला जा सकता है। तालाब के पानी को थोड़ा हिला डुला देने से इसके तल में जमे पोषक पदार्थ फिर से पानी में घुलमिल जाते हैं और पौधों की नयी फसल पैदा की जा सकती है। उष्णकटिबंधीय परिस्थितियों में इस तरह की एक फसल के लिए ज्यादा वक्त नहीं लगेगा।

बायोगैस तकनीकों के विकास और सस्ते दरों पर इनके उत्पादन के लिए विभिन्न देश मिलकर संयुक्त-उद्यम खड़ा कर सकते हैं या फिर बहुराष्ट्रीय सरकारी कंपनियां बना सकते हैं ताकि ये तकनीकें मध्यम और निम्न आय वाले परिवारों को सुलभ हो सकें।

कंपनियां घरेलू स्तर पर सस्ते दरों पर बायोगैस उत्पादन के लिए बड़ी संख्या में यंत्रों का उत्पादन कर सकते हैं। कुछ कंपनियां बड़े शहरों या कस्बों के लिए इस प्रकार के बायोगैस संयंत्रों के उत्पादन का जिम्मा ले सकती हैं। ये कंपनियाँ ऐसे यंत्रों का उत्पादन भी कर सकती हैं जो घरों या खेतों में स्थापित विभिन्न छोटे-छोटे बायोगैस संयंत्रों से कच्चा बायोगैस जमा कर उन्हें परिष्कृत करे जिनसे कारों और बसों को चलाया जा सकता है। कच्चे बायोगैस का उपयोग खाना-पकाने या घरों में रोशनी के लिए किया जा सकता है। लेकिन बायोगैस से कार चलाने के लिए इसे कार्बन डाय-ऑक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड और सल्फर (गंधक) जैसी अशुद्धियों से मुक्त करना होता है।

बहुराष्ट्रीय सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों द्वारा बड़े स्तर पर सस्ते स्टर्लिंग इंजनों का उत्पादन भी मजेदार हो सकता है। स्टर्लिंग इंजन एक सरल मशीन है जिसके उपयोग के द्वारा ताप के अंतर को यांत्रिक ऊर्जा में और फिर यांत्रिक ऊर्जा को बिजली में बदला जा सकता है।

स्टर्लिंग इंजन का आविष्कार तो सन् 1839 में ही हो चुका था लेकिन यह तकनीक हाल में सचमुच आकर्षक बन गयी है। अब कुछ ऐसे पदार्थों का विकास किया गया है जो काफी अधिक तापमान सह सकते हैं और लगातार बदलते तापमान से भी यह जल्दी अपने अवयवी तत्वों में नहीं टूटते।

स्टर्लिंग इंजनों में ताप पैदा करने के लिए लकड़ी, सौर-ऊर्जा जैसे किसी भी तापस्रोत का इस्तेमाल किया जा सकता है। सौर-बैटरी से पैदा की गई बिजली की तुलना में स्टर्लिंग इंजन से पैदा बिजली 10-12 गुणा सस्ती होती है। स्टर्लिंग इंजनों और परावलय की आकृति वाले परावर्तकों के बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा उन क्षेत्रों में सौर ऊर्जा का उत्पादन नाभिकीय ऊर्जा या कोयले पर आधारित ऊर्जा की तुलना में काफी सस्ता हो जाएगा जहाँ सूरज की रोशनी बहुतायत से मिलती है। स्टर्लिंग इंजन बायोगैस, प्राकृतिक गैस या लकड़ी का उपयोग कर सस्ती बिजली पैदा कर सकती है।

इंग्लैंड में घरेलू उपयोग के लिए लघु CHP मशीन (CHP-Combined Heat & Power) बाजार में आ चुकी हैं। पावरग्रिड में बिजली प्रवाहित होने के क्रम में काफी बिजली बर्बाद हो जाती है। CHP मशीन के साथ ऐसा नहीं होता इसीलिए स्वयं भी जीवाश्म ईंधन, प्राकृतिक गैस आदि का उपयोग करने के बावजूद यह मशीन प्रति घरेलू इकाई कार्बन डाय-ऑक्साइड उत्सर्जन को 20% तक कम कर देती है।

उदग्र और क्षैतिज पवनचक्कियों के बड़े पैमाने पर उत्पादन में भी सहयोग की अनेक संभावनाएं हैं। डेनमार्क के ऊर्जा विशेषज्ञों की गणना के अनुसार मध्यम आकार की 150-300 किलोवाट क्षमता वाली पवन-चक्कियों को रूस में बनाने की लागत 15,000 यूरो के करीब आएगी। उत्पादन लागत में यह कटौती पवन चक्कियों के बड़े पैमाने पर उत्पादन और रूस की हवाई जहाज बनाने की फैक्ट्रियों की अतिरिक्त क्षमता का उपयोग करने के कारण संभव हो पाएगी।

हमारे पास दूसरा विकल्प है, आधुनिक उदग्र-अक्ष वाली पवन चक्कियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन। इस तरह की पवन चक्कियां पहले पहल 12वीं सदी में ईरान और अफगानिस्तान में बनायी गयी थीं। इन उदग्र अक्ष वाली पवनचक्कियों का इस्तेमाल मुख्यतः आटाचक्की के रूप में किया जाता था। जब यूरोप में इसका पता चला तो उन्होंने अक्ष को क्षैतिज बना दिया। इसके बाद उदग्र-पवनचक्की सदियों तक 'इस्लामी' पवनचक्की के रूप में जानी जाती थी और क्षैतिज पवनचक्की को 'यूरोपीय' कहा जाता था।

कुछ यूरोपीय देशों, खासकर फिनलैंड में उदग्र पवनचक्कियों में लोगों की रुचि हमेशा से रही है और लगता है यह एक बार फिर उभाड़ पर है। फिनलैंड की कंपनियों ने हेलिक्स आकार की उदग्र-पवनचक्कियों का निर्माण किया है जो बहुत दक्षता से पवन-ऊर्जा को जमा कर सकती हैं। बहुत कम हवा से ये पवनचक्कियां काफी मात्रा में बिजली बना पाती हैं और तेज हवाओं में भी ये टूटती नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन पवनचक्कियों से बहुत कम आवाज आती है और देखने में भी भद्दी नहीं लगती। इनमें बड़ी संख्या में छतों पर, घरों के किनारे, खंभों के ऊपर, बिजली या मोबाइल फोन के टावरों पर या फिर बड़े पेड़ों के बाजू में या ऊपर भी लगाया जा सकता है। इसके द्वारा लाखों शहरी और ग्रामीण परिवार अपनी

जरूरत के लायक बिजली पैदा कर पाएंगे। लेकिन यह तकनीक आर्थिक रूप से सफल तभी होगी जब इन उदग्र-पवनचक्कियों का बड़े स्तर पर उत्पादन किया जाए। अन्यथा इनकी कीमत इतनी अधिक होगी कि अधिकांश लोग इन्हें खरीद नहीं पाएंगे।

'यू.एस.इलेक्ट्रिकपावररिसर्च'के अध्यक्ष कार्ल येगर के अनुसार इस सदी के मध्य तक स्टर्लिंग इंजन, पवनचक्की जैसे ऊर्जा उत्पादन के छोटे व्यक्तिगत संयंत्र, परंपरागत केंद्रीकृत ऊर्जा-उत्पादन संयंत्रों को पूरी तरह विस्थापित कर देंगे। येगर के अनुसार भविष्य में इंटरनेट की तरह पावरग्रिड भी लाखों स्वतंत्र घरेलू और सामुदायिक विद्युत-उत्पादक संयंत्रों को जोड़ने का काम करेगी।

नाभिकीय ऊर्जा पर पुनर्विचार

आजकल कुल ऊर्जा उत्पादन का 2% नाभिकीय स्रोत से पैदा किया जाता है। हाल में कुछ लोगों ने कहा है कि नाभिकीय ऊर्जा एक हद तक वैश्विक तापमान वृद्धि का समाधान हो सकता है क्योंकि इस प्रक्रिया में ग्रीनहाउस गैसों नहीं बनती।

नाभिकीय उद्योगों के हिमायती वैश्विक तापमान वृद्धि को रोकने के लिए विश्व की नाभिकीय ऊर्जा क्षमता को 20 गुणा बढ़ाने की बात कर रहे हैं। हालांकि फिनलैंड उत्तरी गोलार्द्ध का एकमात्र ऐसा देश है जिसने एक नया नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र स्थापित करने का फैसला किया है, अन्य सरकारें भी इस दिशा में विचार कर रही हैं।

नाभिकीय ऊर्जा के साथ लोकतंत्र के कई सवाल भी जुड़े हैं। इनमें से पहला तो बहुत स्पष्ट है। बड़े पैमाने पर नाभिकीय ऊर्जा का उत्पादन कुछ पीढ़ियों में ही धरती को अनेक दीर्घजीवी रेडियोधर्मी प्रदूषक पदार्थों से पाट देगा। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह पृथ्वी आगे आने वाले 1 अरब सालों तक मनुष्य और अन्य जीवित प्राणियों के रहने लायक बनी रहेगी। इसके बाद सूरज की गर्मी से जीव-जगत समाप्त हो जाएगा। लेकिन कुछ रेडियोधर्मी प्रदूषक पदार्थ उस समय भी धरती पर मौजूद रहेंगे। प्लूटोनियम-244 की अर्द्ध आयु (Half life) 7 करोड़ वर्ष है और यूरेनियम-235 की 71 करोड़ वर्ष।

क्या इस धरती पर रहने वाली पाँच पीढ़ियों को यह अधिकार है कि वह इसे स्थायी रूप से इतना प्रदूषित बना दे कि हमारी पाँच करोड़ पीढ़ियाँ और अन्य प्राणी गंभीर नुकसान सहन करने को शापित हो जाएं? भविष्य की पीढ़ियों को तो वोट देने का भी अधिकार नहीं है। फिर हम कैसे सुनिश्चित करेंगे कि उनके अधिकारों की रक्षा हो? दूसरी समस्या है नेताओं और मंत्रियों

को नाभिकीय उद्योगों द्वारा ही जाने वाली रिश्वत। नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र बनाने वाली कंपनियों ने अपनी तकनीकों को सफल बनाने के लिए भारी मात्रा में पैसा लगाया है। लेकिन नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों का प्रदर्शन संतोषजनक नहीं रहा है। अधिकांश देशों के लिए नाभिकीय ऊर्जा एक मंहगा विकल्प ही रहा है वो भी तब जबकि इसकी कीमत में रेडियोधर्मी प्रदूषण, मृत ऊर्जा संयंत्रों को बंद करने और समेटने (Dismantling) तथा नाभिकीय कचरे को निबटाने की कीमत शामिल नहीं होती है। इसके अलावा नाभिकीय ऊर्जा इसलिए भी लोकप्रिय नहीं रही है कि लोग अपने प्रियजनों की जिंदगी के साथ जुआ नहीं खेलना चाहते। इसके कारण नाभिकीय ऊर्जा के क्षेत्र में काम करने वाले उद्योगों ने ऊर्जा क्षेत्र की अन्य कंपनियों की तुलना में ऐसे अपराध अधिक किए हैं। इसने भ्रष्टाचार को काफी बढ़ावा दिया है जो लोकतंत्र के लिए बड़ा खतरा है।

रिश्वत देने का एक ऐसा ही मामला फिलिपींस में प्रकाश में आया था। *वेस्टिंगहाउस* नामकी इस कंपनी ने नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र खरीदने का फैसला लेने के लिए एक मंत्री को 3.5 करोड़ डॉलर का रिश्वत दिया था।

तीसरी बड़ी समस्या यह है कि बड़े पैमाने पर नाभिकीय ऊर्जा के उपयोग से उन देशों में मानवाधिकार और नागरिक स्वतंत्रता को भी खतरा है जो इन तकनीकों के पीछे पैसा लगा रहे हैं।

आज दुनिया एक ऐसे असंगत विश्वयुद्ध की तरफ बढ़ रही है जिसमें अनेक हिंसक भूमिगत संगठन आतंकवाद का सहारा लेकर दुनिया के औद्योगिक राष्ट्रों से लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। आतंकवादी संगठन हर जगह लोकतंत्र के लिए बड़ा खतरा पैदा करते हैं। नागरिक स्वतंत्रता और मानवाधिकारों को आतंकवाद के खतरे के नाम पर धीरे-धीरे कानूनी जामे में खत्म किया जा सकता है और इसे सही ठहराया जा सकता है। यह प्रक्रिया अंततः परिस्थितियों को बदतर बना सकती है जिसके परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था वाले देश पहले पुलिसिया राज्य और फिर पूरी तरह फासीवादी शासन में तब्दील हो सकते हैं।

नाभिकीय ऊर्जा से संबंधित सबसे बड़ी समस्या है नाभिकीय कचरा। इस समस्या का एक छोटा सा हिस्सा स्वयं नाभिकीय संयंत्र भी है। जो कंपनियां आज नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों को चला रही हैं उन्होंने इन संयंत्रों के बंद होने के बाद उन्हें समेटने के लिए बहुत ही कम पैसे का प्रावधान रखा है। लेकिन हमारे पास कुछ उदाहरण हैं जिनमें इन नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों के बंद होने के बाद उन्हें समेटने का खर्च इस उद्योग में लगी कंपनियों के द्वारा प्रस्तुत अनुमानित राशि से 15-20 गुणा अधिक आया है। उदाहरण के लिए अनुमान लगाया जाता है कि ब्रिटेन में नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों को समेटने और रेडियोधर्मी तत्वों की सफाई में कम से कम 63 अरब पाउंड या शायद इससे भी अधिक खर्च होगा। यह भी अब खुलेआम स्वीकार किया जा रहा है कि यह पैसा जनता से ही उगाहना होगा, क्योंकि करीब-करीब दिवाला हो चुकी नाभिकीय-ऊर्जा कंपनियां शायद ही कुछ दे पाएंगी।

यूरेनियम खदानों से भी थोड़ा रेडियोधर्मी कचरा मिलता है। यह भी एक बड़ी समस्या है। यूरेनियम की खुदाई में कच्चे यूरेनियम से करीब 15% रेडियोधर्मिता बाहर निकल आती है। बाकी 85% रेडियोधर्मिता अवशिष्ट मिट्टी और पत्थर के ढेर में ही बची रहती है।

थोड़े से रेडियोधर्मी गुण वाले इस कचरे का भंडार अत्यंत विशाल है। एक-एक खदान में इस तरह का अरबों टन कचरा पाया जाता है। लोग सोच नहीं पा रहे कि इस कचरे का क्या किया जाए। उदाहरण के लिए हिंदुस्तान में यूरेनियम खान के कचरे को मध्यम आकार के मिट्टी के बांध के बीच जमा किया जाता है। इन बांधों से रिसाव होता है जिससे उनके नीचे बहने वाली नदियां धीरे-धीरे रेडियोधर्मी होती जा रही है। एक टन समृद्ध नाभिकीय ईंधन (Enriched Nuclear Fuel) के उत्पादन के क्रम में सात टन अवशिष्ट यूरेनियम (Depleted Uranium) पैदा होता है। 1000 मेगावाट क्षमता वाला नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र प्रति वर्ष 200 टन अवशिष्ट यूरेनियम पैदा करता है। नाभिकीय ऊर्जा उत्पादकों के पास अब तक दस लाख टन अवशिष्ट यूरेनियम का भंडार जमा हो चुका है। प्रयोग में लाए जा चुके यूरेनियम को फिर से साफ करने के क्रम में भी अल्पमात्रा में अवशिष्ट यूरेनियम पैदा होता है।

कचरे को निबटाने में आने वाले खर्च को घटाने के लिए नाभिकीय उद्योग अवशिष्ट यूरेनियम हथियार उत्पादकों को मुफ्त में दे देता है। इसी कारण से युद्ध सामग्री बनाने वाली कंपनियों के बीच अवशिष्ट यूरेनियम की यह मुफ्त और अनंत आपूर्ति बड़ी लोकप्रिय है। शीशे की तुलना में अवशिष्ट यूरेनियम का घनत्व 1.7 गुणा अधिक होता है और इसलिए इससे बने प्रक्षेपक हथियार अभेद्य कवचों को भी भेद सकते हैं। टक्कर लगने पर अवशिष्ट यूरेनियम जल उठता है जिससे 0.1-10 माइक्रोमीटर चौड़ा यूरेनियम ऑक्साइड कण पैदा होता है। ये कण अत्यंत अघुलनशील होते हैं और सांसों के द्वारा शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। प्राकृतिक अथवा अवशिष्ट यूरेनियम से पैदा होने वाली अल्फा-विकिरण कपड़े, मनुष्य की त्वचा या कागज को नहीं भेद सकती। लेकिन सांस के द्वारा अंदर जाने पर इन कणों के संपर्क में आने वाले उतकों (Tissues) को अल्फा-विकिरण का खतरा रहता है। इसके कारण कैंसर एवं स्वास्थ्य संबंधी अन्य समस्याएं पैदा हो सकती हैं। उदाहरण के लिए युद्धक हेलिकॉप्टरों और हवाई जहाज में प्रयुक्त आधुनिक 30 मिलीमीटर गैटलिंग बंदूक प्रतिमिनट 3900 गोले दाग सकती है। अवशिष्ट यूरेनियम का ठोस सतह से टकराने वाला हर गोला विस्फोट के बाद थोड़े से रेडियोधर्मी यूरेनियम ऑक्साइड एरोसोल (Aerosol) में बदल जाता है।

पहले खाड़ी-युद्ध के दौरान अमरीकी फौजों ने बहुत ही कम समय में करीब दस लाख गोले दागे थे जिसके अंदर करीब 260 टन अवशिष्ट यूरेनियम था।

बसरा के शिक्षण अस्पताल के कैंसर वार्ड के निदेशक जावाद खुदीम अल अली के अनुसार पहले खाड़ी युद्ध के बाद बसरा में कैंसर की दर 11 गुणा बढ़ गयी है। इसके अलावा कई अन्य इराकी डॉक्टरों ने भी कैंसर और जन्मजात विकृतियों में वृद्धि की रिपोर्ट दी है। अमरीकी

सरकार ने भी इन तथ्यों को स्वीकार किया है लेकिन उन्होंने इसका दोष अवशिष्ट यूरेनियम की बजाय रासायनिक हथियारों के मत्थे मढ़ा है। लेकिन अधिकांश ईराकी इसके लिए अमरीका को दोषी मानते हैं।

अमरीका की ओर से लड़ने वाली 80% फौजों को भी अवशिष्ट यूरेनियम के संपर्क में आने का खतरा था। खाड़ी युद्ध के 3 साल के बाद भी कुछ अमरीकी सैनिकों के पेशाब में यूरेनियम की मात्रा अमरीका में स्वीकृत सुरक्षित मात्रा से 4000 गुणा अधिक पायी गयी।

जर्मनी के प्रोफेसर और बायोकेमिस्ट अलब्रेक्ट शॉट के अनुसार पहले खाड़ी युद्ध से लौटे ब्रिटिश सैनिकों में क्रोमोजोम विकृतियां सामान्य से 5½ गुणा अधिक पायी जाती है। कुछ सैनिकों में तो ये विकृतियाँ सामान्य से 14 गुणा ज्यादा हैं। शॉट के अनुसार इसके कारण कैंसर, बच्चों में अपंगता और जीन-संबंधी विकृतियों की संभावना बढ़ जाती है। इंग्लैंड के संडरलैण्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मैल्कम हूपर के अनुसार अवशिष्ट-यूरेनियम के संपर्क में आने के कारण कैंसर से मरने वाले प्रथम खाड़ी युद्ध में शामिल अमरीकी और ब्रिटिश फौजों की संख्या सामान्य से 22,000 से लेकर 1,60,000 तक अधिक हो सकती है। आज भी अवशिष्ट यूरेनियम की विषाक्तता के कारण खाड़ी युद्ध में शामिल अनेक सैनिकों को स्वास्थ्य संबंधी गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। प्रथम खाड़ी युद्ध में पंजीकृत 5,40,047 अमेरिकी सैनिकों में 29% लोगों को सरकारी तौर पर अपंग घोषित किया जा चुका है।

कोसोवो और बोस्निया में काफी कम मात्रा (करीब 10 टन) में अवशिष्ट यूरेनियम का प्रयोग किया गया। हाल ही में इटली की एक टीम द्वारा किए गए अध्ययनों से पता चला है कि कोसोवो में बुरी तरह प्रभावित क्षेत्रों की कुछ मिलीग्राम मिट्टी में दस लाख के करीब सूक्ष्म यूरेनियम कण हो सकते हैं। ये कण इतने सूक्ष्म होते हैं कि शुष्क अवस्था में ये फिर घुल सकती हैं और साँस के द्वारा शरीर के अंदर प्रवेश कर सकती हैं। इटली की टीम और संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UN Environmental Programme) के अनुसार इस प्रदूषित मिट्टी का 0.1 ग्राम भी यदि बच्चे की साँस में प्रवेश कर जाता है तो उसके शरीर में रेडियोधर्मी तत्वों की 1.44 मिलीसीवर्ट (Millisieverts) मात्रा प्रवेश कर जाती है। यह मात्रा वयस्कों के लिए साल भर के दौरान स्वीकृत अधिकतम रेडियोधर्मिता से भी अधिक है।

यूरेनियम-धूल का रासायनिक जहरीलापन बच्चों के लिए खासकर खतरनाक होता है। कोसोवो और बोस्निया में पाया गया है कि प्रदूषित मिट्टी का चुटकी भर अगर बच्चे निगल जाते हैं तो उनके शरीर में 120 मिलीग्राम यूरेनियम प्रवेश कर जाता है। यह मात्रा उनकी किडनियों को खराब करने के लिए काफी है। सामान्य रूप से हवा, पानी या भोजन के द्वारा साल भर में मनुष्य के शरीर में करीब 0.4 मिलीग्राम यूरेनियम प्रवेश करता है।

दूसरे खाड़ी युद्ध में तो और भी अधिक मात्रा में अवशिष्ट यूरेनियम का प्रयोग किया गया। कुछ अनुमानों के अनुसार युद्ध के दौरान 90 लाख गोले दागे गए जिसमें करीब 2200 टन अवशिष्ट यूरेनियम का उपयोग किया गया था। हालांकि सरकारी रूप से इसकी पुष्टि नहीं हुई है लेकिन निश्चय ही बहुत बड़ी मात्रा में अवशिष्ट-यूरेनियम का उपयोग किया गया था। सबसे खतरनाक बात तो यह है कि अवशिष्ट यूरेनियम वाले इन 90 लाख गोलों को सघन आबादी वाले इलाकों के ऊपर दागा गया था। अगर यह बात सच है तो यह कहना गलत न होगा कि अमरीकी और ब्रिटिश सैनिकों ने उत्पन्न ही बर्बर आचरण किया। 2200 टन का अर्थ है 2200,000,000,000 मिलीग्राम जो 20 अरब बच्चों की किडनी खराब करने के लिए काफी है।

भविष्य में अधिकतर बड़ी लड़ाइयाँ घनी आबादी वाले शहरी इलाकों में होने की आशंका है। इसका कारण है कि महानगरों की आंशिक रूप से ध्वस्त हुई इमारतों के अंदर मोर्चा लगाकर सामरिक रूप से कमजोर पक्ष अपने से ज्यादा मजबूत पक्ष को कड़ी चुनौती दे सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान स्टालिनग्राद की लड़ाई और स्पेन के गृह-युद्ध के दौरान मैड्रिड की लड़ाई मनोवैज्ञानिक और सांकेतिक रूप से युद्ध की दिशा बदलने वाली लड़ाइयाँ साबित हुईं। भविष्य में होने वाली लड़ाइयों के लिए मैड्रिड और स्टालिनग्राद की लड़ाइयाँ उदाहरण का काम करेंगी। इस बात की कल्पना भी तकलीफदेह है कि भविष्य की इन लड़ाइयों में अवशिष्ट यूरेनियम के लाखों गोले दागे जाएंगे। नाभिकीय-ऊर्जा कंपनियों द्वारा पैदा किया गया अवशिष्ट यूरेनियम इस प्रकार के लाखों गोले बनाने में मदद कर सकता है। अभी भी ये कंपनियाँ हर साल बड़ी मात्रा में अवशिष्ट यूरेनियम का उत्पादन कर रही हैं। अमेरिका अवशिष्ट यूरेनियम वाले ये हथियार बहरीन, मिस्र, फ्रांस, ग्रीस, इजराइल, कुवैत, पाकिस्तान, रूस, दक्षिण कोरिया, ताईवान और तुर्की जैसे कम से कम 16 देशों को बेच चुका है।

किसी को इस बात का ठीक से पता नहीं है कि अवशिष्ट यूरेनियम कितना खतरनाक होता है। हो सकता है कि इसके खतरे को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया गया हो लेकिन इसके जहरीलेपन और बच्चों की किडनियों को प्रभावित करने की इसकी क्षमता के बारे में कोई संदेह नहीं है। फिर रेडियोधर्मिता से होने वाला नुकसान तो है ही। लेकिन इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू ये है कि ईराक की अधिकांश जनता मानती है कि अवशिष्ट यूरेनियम बहुत ही खतरनाक होता है। भविष्य में ईराक में होने वाले कैंसर और अपंग-बच्चों के जन्म का दोष अमरीकी फौज पर ही जाएगा। अवशिष्ट यूरेनियम के उपयोग से आतंकवादियों द्वारा रेडियोधर्मी हथियार या 'गंदे-बम' (Dirty Bomb) के उपयोग और अमरीकी नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों पर हमले की संभावना भी बढ़ती है।

उदाहरण के लिए नाभिकीय संयंत्र से तुरंत निकाला गया नाभिकीय ईंधन अवशिष्ट यूरेनियम की तुलना में 300,000,000 गुणा अधिक रेडियोधर्मी होता है। लेकिन इसके अलावा दोनों की भौतिक-रासायनिक विशेषताएं एक जैसी होती हैं। आज धरती पर 10,000 ऐसे स्थान हैं जहाँ

रेडियोधर्मी तत्वों को संचित कर रखा जाता है। इन पदार्थों के उपयोग से 'गंदे-बम' बनाए जा सकते हैं।

ये संभावनाएं आज और भी वास्तविक होती जा रही हैं क्योंकि अल कायदा जैसे आतंकवादी गुरिल्ला संगठनों और अमेरिका एवं इसके सहयोगियों के बीच टकराव बढ़ता जा रहा है। अल जजीरा को दिए गए एक साक्षात्कार में अलकायदा - जो 11 सितंबर 2001 को वाशिंगटन पर हुए हमले में शामिल था - के दो नेताओं ने बताया कि उनकी मूल योजना अमरीकी नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों पर हमले की थी। लेकिन उन्होंने यह सोचकर अपनी योजना बदल दी कि नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों पर हमले के कारण बहुत ज्यादा नुकसान हो सकता था और इसके परिणाम भी अनियंत्रित हो सकते थे।

जून 2003 में थाइलैंड की पुलिस ने एक आदमी को गिरफ्तार किया जिसके पास रूस से तस्करी द्वारा लाया गया 30 किलोग्राम रेडियोधर्मी सेसियम-137 (Cesium-137) बरामद हुआ। गिरफ्तार किया गया व्यक्ति शायद इस तत्व को किसी आतंकवादी संगठन को बेचने की कोशिश कर रहा था।

जब अमरीकी और ब्रिटिश फौजों ने ईराक पर कब्जा किया तो उन्होंने कहा था कि व्यापक जनसंहार के हथियारों (Weapons of Mass Destruction) को आतंकवादियों के हाथों में पड़ने से बचाने के लिए यह आवश्यक था। लेकिन अमरीकी फौजों ने एक बहुत बड़ी गलती की - रेडियोधर्मी तत्वों के सबसे विख्यात और महत्वपूर्ण भंडार पर ईराकी फौजों के हटने के बाद पूरे एक सप्ताह तक कोई पहरा न था। उस समय तुवैथा नाभिकीय परिसर में मेडिकल और औद्योगिक विकिरण के कम से कम 400 स्रोत मौजूद थे। ऐसी आशंका है कि युद्ध की हलचलों के बीच इनमें से कुछ की चोरी हो गयी। कई स्थानीय लोगों में दस्त और नाक से रक्तस्राव जैसी विकिरण के कारण पैदा होने वाली बीमारियाँ पायी गयी हैं। समझा जाता है कि लोगों ने इस परिसर से कुछ चीजें चुराकर छिपायी हुई हैं या फिर किसी के हाथ बेच दी हैं जिसके कारण स्वास्थ्य संबंधी ये समस्याएं पैदा हो रही हैं।

अमेरिकनएसोशिएशनऑफसाइंटिस्ट्स को जब माइकेल लेवी 'गंदे-बमों' के परिणाम के बारे में बता रहे थे तो वे मटर के आकार वाले बमों की चर्चा कर रहे थे जिसमें सेसियम-137 के रूप में 74 गीगा बेकरेल या 2 क्यूरी रेडियोधर्मिता पायी जाती है। अगर इस तरह के एक छोटे बम का विस्फोट न्यूयॉर्क शहर के बीच में किया जाए तो वर्तमान कानूनों के मुताबिक लोगों को 1½ किलोमीटर के क्षेत्र से बाहर निकालना पड़ेगा वर्ना कैंसर से मरने वाले लोगों की संख्या में करीब 1 हजार की वृद्धि हो सकती है। थाइलैंड में पकड़े गए 30 किलोग्राम सेसियम-137 से इस प्रकार के 10,000 छोटे बम बनाए जा सकते थे।

1600 मेगावाट क्षमता वाले जलप्रशीतन नाभिकीय भट्टी (Water-Cooled Nuclear Reactor) की प्रशीतन-पाइपों को काट देने से 10,000 क्यूरी के बराबर रेडियोधर्मिता उत्सर्जित होगी जो ऊपर बताए गए मटर के बराबर आकार वाले 'गंदे बम' की तुलना में 5 अरब गुणा अधिक रेडियोधर्मिता होगी। नाभिकीय भट्टियों की तुलना में प्रशीतन-तालाब (Cooling Ponds) या फिर उनकी प्रशीतन-पाइपों को आतंकवादी हमलों का खतरा अधिक है। इन पाइपों में नाभिकीय ईंधन वाली छड़ों को इकट्ठा किया जाता है।

यदि नाभिकीय भट्टी (Nuclear Reactor) को ठंडा करने वाला प्रशीतक जल काम करना बंद कर देता है तो ऊर्जा-उत्पादन करने वाली प्रतिक्रिया तुरंत बंद हो जाती है। इसका कारण है कि प्रशीतक जल परमाणुओं के टूटने से बनने वाले न्यूट्रॉनों की गति को कम कर अन्य परमाणुओं को विखंडित करने से रोकता है। लेकिन यदि नाभिकीय ईंधन का प्रयोग कुछ समय से हो रहा है तो इसमें काफी मात्रा में अवशिष्ट पदार्थ जमा हो जाते हैं। यह अवशिष्ट पदार्थ एक प्रकार की नाभिकीय राख है जिसमें विभिन्न अर्द्धआयु वाले रेडियोधर्मिता तत्व जैसे प्लूटोनियम आदि पाए जाते हैं। परमाणु भट्टी के बंद होने के बाद भी परमाणु ईंधन में जमा ये रेडियोधर्मिता अवशिष्ट तत्व विघटित होकर ताप पैदा करते रहते हैं। ईंधन-छड़ों को बदलने के लिए नाभिकीय भट्टी बंद करने के ठीक पहले यदि कुछ गड़बड़ होती है तो प्राथमिक प्रतिक्रिया बंद होने के बाद भी ईंधन के प्रत्येक टन से 1.6 मेगावाट ताप पैदा होता रहता है।

दूसरे शब्दों में एक बड़े जल प्रशीतन नाभिकीय भट्टी के बंद हो जाने के बाद भी यह 80 मेगावाट ताप का उत्पादन करती रह सकती है। यदि प्रशीतन पाइप को काट दिया गया है या उन्हें नुकसान हुआ है तो प्रशीतक इस ताप को नाभिकीय भट्टी से निकाल नहीं पाता है। जब हम पानी से भरी केतली को बिजली वाले स्टोव से हटाते हैं तो बहुत जल्द ही प्लेट गर्म होकर लाल हो जाती है। अगर नाभिकीय भट्टी में ऐन वक्त पर प्रशीतक ह्रास दुर्घटना (Loss of Coolant Accident-LOCA) होती है तो ताप के कारण नाभिकीय ईंधन पिघल जाता है और सुरक्षा कवच (Containment Shield) भेदकर यह जमीन में प्रवेश कर जाता है। इस घटना को 'चाइना सिन्ड्रोम' (China Syndrome) कहा गया है।

'चाइना सिन्ड्रोम' आज तक किसी भी नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र में घटित नहीं हुआ है। दुर्घटनावश ऐसा होने की संभावना भी बहुत कम है क्योंकि नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों में कई स्तरों पर सुरक्षा के इंतजाम होते हैं। लेकिन यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर संयंत्र को नुकसान पहुँचाने के लिए ऐसा करता है तो यह काफी आसान है।

अमरीकी वायुसेना के मेजर निकेलसन तथा डैरेन डी. मेडलिन द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि यदि आतंकवादियों के हाथ उपयोग में लायी जा चुकी नाभिकीय ऊर्जा वाली एक भी छड़ आ जाए तो वो काफी नुकसान पहुँचा सकते हैं। यदि इस छड़ में डीजल तेल और नाइट्रोजन खाद की मदद से विस्फोट करवाया जाय तो इससे पैदा हुए रेडियोधर्मिता

प्रभाव से वाशिंगटन डी.सी., बाल्टीमोर, फिलाडेल्फिया और न्यूयॉर्क की 50-90% असुरक्षित आबादी के मारे जाने का खतरा है। इसके अलावा अमरीका के पश्चिमी तट पर कैंसर से होने वाली मौतें भी काफी बढ़ सकती हैं।

नाभिकीय ऊर्जा और नाभिकीय ईंधन प्रसंस्करण (Reprocessing) संयंत्रों की सुरक्षा को सबसे गंभीर खतरा आतंकवाद से नहीं है। इस खतरे का नाम है महा-त्सुनामी (Mega-Tsunami)।

सामान्य त्सुनामियाँ तेज गति वाली ऐसी समुद्री लहरें हैं जो ज्वालामुखी या भूकंप के कारण पैदा होती हैं। ये लहरें प्रायः कुछ ही सेंटीमीटर या कभी-कभार कुछ मीटर ऊँची होती हैं। तटीय क्षेत्रों में इस प्रकार की लहरों से भारी नुकसान हो सकता है।

आस्ट्रेलिया (न्यू साउथ वेल्स) के वोलोगोंग विश्वविद्यालय में कार्यरत भूगर्भशास्त्रियों और भूआकृति वैज्ञानिकों (Geomorphologists) ने आस्ट्रेलियाई तट के आसपास अनेक नई परंतु अत्यंत शक्तिशाली त्सुनामी तरंगों का पता लगाया है। इसकी पुष्टि 100 मीटर से भी अधिक ऊँचाई तक फेंके गए कार के आकार के शिलाखंडों और तटवर्ती क्षेत्र में 35 किलोमीटर अंदर पाए गए थोड़े छोटे आकार के पत्थर के टुकड़ों से होती है। आस्ट्रेलियाई शोधकर्ताओं के अनुसार समुद्र में औसतन 500 से 1000 वर्षों के अंतराल पर 'महात्सुनामी' लहरें उठती रहती हैं।

शुरूआत में अधिकांश शोधकर्ता मानते थे कि आस्ट्रेलिया के तटों की इन महात्सुनामी तरंगों के पीछे पुच्छल-तारे या उल्कापिंडों का हाथ है। लेकिन अब इस व्याख्या को सही नहीं माना जाता। इन आकाशीय पिंडों के धरती से टकराने के कारण जैसे गड्ढे बनने चाहिए उनके प्रमाण नहीं मिलते। वैसे भी इस प्रकार की नक्षत्रीय टक्करें बहुत ही दुर्लभ घटना है। शोधकर्ताओं का यह भी मानना है कि पुच्छलतारों या उल्कापिंडों के टकराने से बनी तरंगें उस तरह की नहीं हो सकती जिसके प्रमाण आस्ट्रेलियाई तटों पर मिले हैं।

इसके अलावा तीन और कारण संभावित हैं - मिथेन-घन भंडारों (Methane Clathrate Deposits) में असंतुलन, अंटार्कटिक ग्लेशियरों में असंतुलन या फिर ज्वालामुखी का विध्वंस।

उदाहरण के लिए कैनरी द्वीप पर स्थित ज्वालामुखी 'कम्बर विएजा' अगले विस्फोट के बाद ध्वस्त हो जाएगा। जब भी ऐसा होगा समुद्र में करीब 5 खरब टन पथरीला मलबा गिरेगा। इसके कारण अटलांटिक महासागर के ऊपर जेट हवाई जहाज की रफ्तार से चलने वाली 500 मीटर ऊँची महात्सुनामी लहरें पैदा होंगी। कैनरी द्वीप पर पहले भी ज्वालामुखी विध्वंस से ऐसी लहरें पैदा हुए हैं। उदाहरण स्वरूप बहामा के इल्युथेरा द्वीप पर समुद्र तट से दसों मीटर ऊपर इन महात्सुनामी तरंगों के द्वारा उछाले गए 2000 टन वजन तक के पत्थर के टुकड़े तुलनात्मक रूप से नयी चट्टानों के ऊपर रखे हुए पाए गए हैं। लेकिन ऐसी घटनाएं एक लाख वर्ष में एक ही

बार हो सकती है। इसका मतलब है कि महात्सुनामी लहरें या तो मिथेन-घन भंडारों में असंतुलन या महादेशीय ग्लेशियरों के कारण पैदा हुई होंगी। मिथेन-घन भंडार में असंतुलन पानी के अंदर विशाल भूस्खलन पैदा करती हैं जो महात्सुनामी लहरों को जन्म दे सकती हैं।

ग्लेशियरों के पिघलने से भी महात्सुनामी लहरें पैदा हो सकती हैं। अंतिम हिमयुग के बाद बड़ी-बड़ी बर्फीली दीवारों के पीछे विशाल मात्रा में पिघला हुआ पानी जमा हो जाता था। ऐसा लगता है कि पिघले हुए पानी की ये विशाल झीलें (जिनमें से सबसे बड़ी झील में 10 लाख घन किलोमीटर तक पानी संभव था) बर्फ की दीवार तोड़कर तेजी से समुद्र की ओर बढ़ी होंगी।

कनाडा के अल्बर्टा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जॉनशॉ के अनुसार बर्फ की इन दीवारों के टूटने के बाद जल का यह विशाल भंडार महादेशीय ग्लेशियर के नीचे तेजी से समुद्र की ओर बढ़ा होगा। अंदर ही अंदर तेजी से बहने वाले इस जल प्रवाह के कारण ग्लेशियर के एक बड़े हिस्से का संपर्क भूमि से टूट गया होगा। सतह की जमीन से संपर्क टूटने के बाद ये ग्लेशियर पानी के ऊपर बहते हुए समुद्र की तरफ बढ़ें होंगे। ग्लेशियरों में इस प्रकार की गतियों के कारण ही पिघले हिमयुग के बाद महात्सुनामी लहरें पैदा हुई होंगी। शायद आस्ट्रेलिया के तटों पर पहले आयी महात्सुनामी लहरों की भी यही व्याख्या उचित है। यह एक बहुत ही खतरनाक संभावना है क्योंकि मानव निर्मित पर्यावरण तापमान वृद्धि भी भविष्य में ग्लेशियरों में इसी प्रकार की हलचल पैदा कर सकती है।

नाभिकीय विद्युत संयंत्रों को ठंडा रखने के लिए बड़ी मात्रा में पानी की जरूरत होती है। इसीलिए उत्तरी गोलार्द्ध में अधिकांश नाभिकीय विद्युत संयंत्र तटीय क्षेत्रों में स्थापित किए गए हैं। इसके अलावा अमरीका या यूरोप में अधिकांश लोग तटीय क्षेत्र या उसके पास रहते हैं और इसलिए ये संयंत्र भी तटीय क्षेत्र में बनाए जाते हैं।

ग्लेशियरों के विध्वंस या मिथेन-घन भंडारों में असंतुलन के कारण यदि महात्सुनामी तरंगें पैदा होती हैं तो ये सभी नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र नष्ट हो जाएंगे। समुद्र में उठने वाली साधारण लहरें भी 6 किलोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर अर्थात् 60 टन प्रति वर्गमीटर का दबाव पैदा कर सकती है जो स्टील भी मजबूत चादरों और खंभों को तोड़ने में सक्षम है। महात्सुनामी लहरें इन लहरों से काफी बड़ी और तेज होती हैं। इनकी ताकत काफी अधिक होती है। इन लहरों के सामने नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों की पाइपों, अन्य संरचनाओं और प्रशीतन-तालाबों के ठहर पाने की कोई संभावना ही नहीं है। प्रशीतन-तालाबों से रेडियोधर्मिता पर्यावरण में प्रवेश कर जाएगी। अगर नाभिकीय भट्ठी पूरी तरह पिघल जाती है तो इससे पिघले-धातु का एक गर्म तालाब बन जाएगा जो महादेशीय-कवच (Continental Shell) को भी छेद सकता है।

प्रशीतक हास दुर्घटना के कारण एक साथ सैकड़ों नाभिकीय भट्ठियों और उनके प्रशीतन-तालाबों के पिघलने का खतरा उपस्थित हो सकता है। यह एक अकल्पनीय और भयावह स्थिति होगी जिससे पूरी मानवजाति भी समाप्त हो सकती है। इस घटना से पर्यावरण में उत्सर्जित रेडियोधर्मिता चेरनोबिल दुर्घटना से भी एक लाख गुणा अधिक हो सकती है।

यदि नाभिकीय ऊर्जा का उत्पादन जोखिम भरा है तो समुद्र तट पर नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र लगाना निरे पागलपन के अलावा कुछ नहीं है खासकर तब जब वैश्विक तापमान वृद्धि के कारण ग्लेशियरों और मिथेन-घन भंडारों के असंतुलन का खतरा मंडरा रहा हो। उन देशों का अंतर्राष्ट्रीय बहिष्कार किया जाना चाहिए जो तटीय क्षेत्रों में नए नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र बनाना चाहते हैं।

हम अभी तक ठीक से नहीं जानते कि विकिरण कितना खतरनाक है लेकिन यह सभी स्वीकार करते हैं कि यह नुकसानदेह है। अनुमान लगाया जाता है कि मानव निर्मित नाभिकीय प्रदूषण, जिसका अधिकांश भाग वातावरण में किए गए नाभिकीय परीक्षणों के कारण पैदा होता है, से होने वाली कैंसर - मौतों की संख्या 11,73,600 (इंटरनेशनल कमीशन ऑन रैडिएशन प्रोटेक्शन) से लेकर 6,16,000,00 (यूरोपियन कमिटी ऑन रैडिएशन रिस्क) के बीच हो सकती है।

खाना बनाने की ऊर्जा, समता और लोकतंत्र

खाना बनाने के लिए ऊर्जा मनुष्य की एक मौलिक आवश्यकता है। हाल में किए गए अध्ययनों के मुताबिक मनुष्य कच्चे भोजन की तुलना में पके भोजन से ऊर्जा और पोषक तत्व ज्यादा अच्छी तरह प्राप्त कर सकता है। एक निश्चित मात्रा में ऊर्जा प्राप्त करने के लिए पकी सब्जियों की तुलना में कच्ची सब्जियों की दुगुनी मात्रा आवश्यक होती है। इसी प्रकार पके हुए मांस की तुलना में उसी ऊर्जा स्तर के लिए 50% अधिक कच्चा मांस आवश्यक होता है।

खाना बनाने के लिए आवश्यक ऊर्जा समता और लोकतंत्र के मुद्दों से गहराई से जुड़ा है। यह एक ऐसा मुद्दा है जहाँ यह दिखाई पड़ता है कि असमानता और लोकतंत्र के अभाव के कारण न केवल गरीब बल्कि हम सबों पर बुरा असर पड़ रहा है।

बिजली, प्राकृतिक गैस या किरासन तेल से खाना पकाने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। लेकिन आज भी दुनियां में करीब 3 अरब लोग लकड़ी, पुआल (Straw) या उपले का प्रयोग कर खाना पकाते हैं। लकड़ी से खाना पकाने वाले लोगों में एक चौथाई भारत में रहते हैं।

जैविक ईंधन (Biofuel) का उपयोग करने वाले अधिकांश लोग आदिम किस्म के चूल्हों का इस्तेमाल करते हैं। करोड़ों लोग तो बस कुछ पत्थर-ईंटों को जोड़कर चूल्हा बना लेते हैं जिनकी तापीय सक्षमता (Thermal Efficiency) बहुत कम होती है। इनमें लकड़ी में उपलब्ध ऊर्जा का

90% बेकार हो जाता है जो कि अच्छी तकनीक वाले चूल्हों में घटकर 10-20% हो जाता है। इसका सीधा नुकसान जंगलों, पेड़-पौधों और जैव विविधता को होता है। इसके अलावा गरीबों द्वारा मजबूरी में उपयोग में लायी जाने वाली खाना बनाने की तकनीक बड़ी मात्रा में पर्यावरण में सूक्ष्मकण उत्सर्जित करती है जो लोगों के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा असर डालती है। गरीब परिवारों में माँ और बच्चे को इन हानिकारक पदार्थों का खतरा सबसे ज्यादा होता है लेकिन सघन आबादी वाले शहरी या कस्बाई क्षेत्रों में समृद्ध लोगों को भी इन तत्वों का खतरा बना रहता है। लाखों चूल्हों से पैदा होने वाला प्रदूषण शहर और सघन आबादी वाले क्षेत्रों में हवा को जहरीला बनाता है। कलकत्ता में तकरीबन 60% लोग ब्रांकाइटिस जैसी साँस संबंधी दीर्घकालीन समस्याओं से ग्रस्त हैं क्योंकि शहर की हवा गाड़ियों, फैक्ट्रियों और चूल्हों से प्रदूषित हो चुकी है।

चूल्हे से निकलने वाले धुएं के सूक्ष्म कणों, कार्बन मोनोक्साइड और नाइट्रोजन ऑक्साइड के कारण वैश्विक तापमान में भी वृद्धि होती है। नाइट्रोजन ऑक्साइड ओजोन बनाता है जो एक तीव्र ग्रीनहाउस गैस है। कार्बन-मोनोक्साइड पर्यावरण में मिथेन के टूटने की प्रक्रिया को धीमा कर देता है।

अध्ययनों से पता चला है कि लकड़ी के धुएं से कई तरह की बीमारियाँ होती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं - बच्चों और बूढ़ों में होने वाला ब्रांकाइटिस और निमोनिया, फेफड़े का कैंसर, फेफड़े की दीर्घकालीन बीमारियाँ जैसे दमा, फेफड़े में रूकावट पैदा करने वाली बीमारियाँ 'एम्फीसेमा' (Emphysema) और इससे संबंधित दिल की बीमारियाँ, टी.बी., हृदय की धमनियों आदि से संबंधित बीमारियाँ, गर्भावस्था के दौरान होने वाले खतरे जैसे जन्म के समय बच्चे का वजन कम होना, मृतशिशु पैदा होना या नवजात बच्चे की मौत, आँख की बीमारियाँ और खून की कमी।

नेपाल के एक ठंडे पहाड़ी जिले जुमला में किए गए एक सर्वेक्षण से पता चला है कि इस जिले में शिशु मृत्यु दर 490 प्रति हजार है जिसमें 335 मौतें साँस की गंभीर बीमारियों के कारण होती हैं। ध्यान देने की बात है कि इस जिले में घर के अंदर काफी धुआं पैदा होता है। शायद शिशु मृत्यु दर लकड़ी के धुएं के कारण ही है। पश्चिमी भारत में किए गए अध्ययनों से पता चला है कि लकड़ी के धुएं के कारण जन्म के समय बच्चे की मृत्यु का खतरा 50% बढ़ जाता है। नेपाल की 15% ऐसी महिलाएं दीर्घकालीन ब्रांकाइटिस की शिकार हैं जो धूम्रपान नहीं करतीं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार धूम्रपान करने वाली गर्भवती महिलाओं को कम वजन वाला बच्चा पैदा होने का खतरा दो गुणा अधिक होता है। इसके कारण जन्म के पहले ही साल में बच्चे की मृत्यु का खतरा 3-4 गुणा बढ़ जाता है। चूल्हे के धुएं से होने वाले नुकसान और धूम्रपान के प्रभाव में कोई ज्यादा फर्क नहीं होता। एक अनुमान के अनुसार लकड़ी

के धुएं के कारण हवा में उत्सर्जित हानिकारक सूक्ष्मकण सालाना 9 लाख से 36 लाख बच्चों की मौत का कारण होते हैं। एक दूसरे अध्ययन के अनुसार घर के बाहर वायु प्रदूषण के कारण सालाना 40,000 से 50,000 मौतें होती हैं जबकि चूल्हे से निकलने वाले धुएं के कारण सालभर में 22 लाख लोग मौत के शिकार होते हैं। अगर दुनियां की शेष 75% आबादी, जो खाना पकाने के लिए इस तरह के ईंधन का इस्तेमाल करती हैं, में भी मृत्युदर यही है तो हमें मानना होगा कि लकड़ी के धुएं के कारण होने वाली समस्या दुनियां की गंभीरतम स्वास्थ्य समस्याओं में एक है।

चीन में रसोई बनाने के लिए छोटे चूल्हों का इस्तेमाल किया जाता है जिसमें कच्चे कोयले का प्रयोग होता है। कच्चे कोयले के इस्तेमाल से भी स्वास्थ्य संबंधी वैसी ही शिकायतें मिल रही हैं जैसी कि लकड़ी के चूल्हों से। इसके बावजूद, ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वायु-प्रदूषण संबंधी शोध और इसके नियंत्रण के होने वाले खर्च का 99% घर के बाहर वायुप्रदूषण से संबंधित होता है। ध्यान देने योग्य है कि नुकसानदेह प्रदूषक कणों के दुष्प्रभाव सिर्फ 40% हिस्सा बाह्य-परिवेश के कारण पैदा होते हैं, बाकी 60% लोग घरों के अंदर पैदा होने वाले प्रदूषित धुएं आदि की चपेट में आते हैं।

इस समस्या का एक समाधान है - धुआं रहित चूल्हे का प्रसार। यदि चूल्हे के साथ एक चिमनी लगी हो जिससे धुआं बाहर निकल सकता है तो धुएं का खतरा काफी कम हो सकता है। इस तरह के चूल्हे मिट्टी या गारे से बनायी जा सकते हैं जिन्हें गरीब लोग भी आसानी से खरीद सकते हैं। दूसरा उपाय है रसोई घर को अधिक हवादार बनाना। भारतीय वैज्ञानिकों के अनुसार यदि छत में एक झरोखे की व्यवस्था हो जिसे खाना-पकाते वक्त खोला जा सकता हो तो धुएं के संपर्क में आने की संभावना 90% घट सकती है।

खाना पकाने वाली लकड़ी की गुणवत्ता में सुधार लाकर भी हम कम खर्च में और आसानी से स्थितियों में सुधार ला सकते हैं। गोबर और पेड़ की टहनियां जलावन के रूप में सबसे हानिकारक होती हैं। जब ये चीजें कम तापमान पर जलती हैं तो कई तरह की नुकसानदेह पदार्थ पैदा होते हैं। गोबर एक उत्कृष्ट किस्म का खाद भी है इसलिए इसे जलाने से पैदावार को भी नुकसान होता है।

अच्छे किस्म की जलावन की लकड़ी से गोबर या टहनियों आदि की तुलना में धुआं और नुकसानदेह कण काफी कम पैदा होते हैं। कई पेड़ जलावन के तौर पर इस्तेमाल के लिए बेहतर होते हैं। उनकी लकड़ी ज्यादा अच्छी तरह जलती है और धुआं भी कम पैदा होता है। दुर्भाग्यवश गरीब खराब किस्म की लकड़ी जलाने को मजबूर हैं क्योंकि अच्छी किस्म की लकड़ी मंहगी होती है। अच्छी किस्म की जलावन की लकड़ियों का बड़े स्तर पर उत्पादन इस समस्या को एक हद तक कम कर सकता है।

फिनलैंड में अध्ययनों से पता चला है कि पूरी तरह से सूखी लकड़ियों को जलाना बेहतर है। गर्मी के दो मौसमों में लगातार सुखाई गई लकड़ियों को जलाने से कार्बन मोनोक्साइड और नुकसानदेह सूक्ष्म कणों की जो मात्रा उत्सर्जित होती है वह कच्ची लकड़ी की तुलना में 100 गुणा कम होती है। उष्णकटिबंधीय जलवायु उत्तर यूरोप की अपेक्षा काफी गर्म है और इसमें लकड़ियां तेजी से सूखती हैं। लेकिन यहां भी लकड़ी को सूखने में थोड़ा वक्त तो लगता ही है। इसके अलावा, गरीबों को अधिक मात्रा में जलावन जमा करने की कानूनी स्वीकृति मिलनी चाहिए ताकि वो लकड़ी को पूरी तरह सुखा कर जलावन में इस्तेमाल कर सकें। यह जलावन की लकड़ी की आवश्यकता को भी कम करेगी क्योंकि सूखी लकड़ी जलने के क्रम में कम बर्बाद होती है। आजकल मजबूरी वश गरीब परिवारों को लकड़ी काटने या जमा करने के तुरंत बाद ही जलाना पड़ता है।

फिनलैंड के शोधकर्ताओं ने सलाह दी है कि लकड़ी को ऊपर की तरफ से जलाना चाहिए न कि नीचे नीचे की तरफ से। यह तभी संभव है जब लकड़ी पूरी तरह सूखी हुई हो। खतरनाक सूक्ष्म कणों के उत्सर्जन को कम करने और लकड़ी से अधिक से अधिक ताप ऊर्जा प्राप्त करने के लिए यह बहुत ही कारगर तरीका है। लकड़ी की ऊर्जा-क्षमता का एक बड़ा हिस्सा उड़नशील रासायनिक तत्वों के रूप में पाया जाता है। जब लकड़ी के ढेर में नीचे से आग लगायी जाती है तो ऊपर की लकड़ी इतनी गर्म हो जाती है कि ये उड़नशील रसायन वाष्पीकृत होकर लकड़ी से निकल जाते हैं। बिना जले लकड़ी से निकले ये रासायनिक तत्व लकड़ी की ताप-क्षमता तो बर्बाद करते ही हैं, खतरनाक उत्सर्जन का भी काम करते हैं। यदि लकड़ी में ऊपर से आग लगायी जाती है या इसे ऊपर-नीचे दोनों तरफ से जलाया जाता है तो ये उड़नशील रसायन जल जाते हैं। इस तरह लकड़ी बहुत साफ-सुथरे ढंग से जलती है और ताप भी अधिक पैदा होता है। इसके अलावा नुकसानदेह सूक्ष्म कण और अन्य हानिकारक पदार्थों का उत्सर्जन भी काफी कम हो जाता है।

कोयले से होने वाले नुकसानदेह उत्सर्जन की मात्रा लकड़ी की तुलना में काफी कम होती है। कच्चे कोयले से पक्का कोयला (चारकोल) बनाने की प्रक्रिया में अधिकांश जहरीले तत्व और नुकसानदेह सूक्ष्मकण बाहर निकल जाते हैं। इसी कारण से पक्का कोयला काफी साफ-सुथरे ढंग से जलता है हालांकि यदि पक्का कोयला बनाने के क्रम में कच्चे कोयले को ठीक से जलाया न गया हो तो पक्के कोयले से भी बड़ी मात्रा में कार्बन मोनोक्साइड का उत्सर्जन हो सकता है।

लेकिन कोयला लकड़ी से मंहगा होता है। दूसरी समस्या है कि कच्चे कोयले से पक्का कोयला बनाने के लिए मिट्टी की भट्ठी का उपयोग किया जाता है जो लकड़ी की ऊर्जा-क्षमता का 90% नष्ट कर देता है। नुकसान की थोड़ी भरपाई इस बात से होती है कि चारकोल की तापक्षमता लकड़ी की तुलना में बेहतर होती है। चूंकि यह अच्छी तरह जलती है

इसलिए लकड़ी की तुलना में इसकी जरूरत कम मात्रा में पड़ती है और यह आर्थिक रूप से भी फायदेमंद है। इसके कारण बर्बादी घटकर आधी या एक तिहाई हो जाती है। परिष्कृत चारकोल भट्टियों में लकड़ी की ऊर्जा-क्षमता का 70% संरक्षित किया जा सकता है। लेकिन ये भट्टियां चारकोल बनाने वाले गरीब लोगों के लिए काफी मंहगी साबित होती है। चारकोल उत्पादन के लिए बीच की तकनीकी अवस्था के रूप में मिट्टी की भट्टियों को बेहतर बनाकर भी इस दुविधा का आंशिक समाधान किया जा सकता है।

चारकोल रिटॉर्ट (Charcoal Retort) के उपयोग से भी चारकोल बनाने की प्रक्रिया में लकड़ी से निकाले गए द्रवीय रसायन को फिर से प्राप्त किया जा सकता है। परंपरागत ढंग से चारकोल बनाने की विधियों में ये रासायनिक तत्व भूमि में प्रवेश कर भूगर्भीय जल को प्रदूषित कर देते हैं। चारकोल रिटॉर्ट विधि से प्राप्त जैव रासायनिक तत्वों का उपयोग लकड़ी से बने घरों और अन्य चीजों को दीमक से बचाने में किया जा सकता है। इससे भी काफी लकड़ी बचायी जा सकती है। या फिर इन्हें कच्चे माल के तौर पर रासायनिक उद्योगों को बेचा भी जा सकता है। अगर इन्हें औद्योगिक रूप से उपयोग करने के तरीके ढूंढे जाएं और इन्हें ठीक ढंग से संग्रहित किया जाए तो इनका बाजार मूल्य चारकोल के बाजार-मूल्य से भी ज्यादा हो सकता है।

इसके बावजूद 1940 के दशक में रासायनिक उद्योगों में वनस्पति-आधारित पदार्थों का बोलबाला था। इसके बाद लकड़ी और अन्य वनस्पतियों से बने रसायनों की जगह तेल और कोयले से बने रसायनों ने ले ली। सन् 1921 में अमरीका में पेट्रोरसायन का उत्पादन 10,000 टन था जो 1939 में बढ़कर 15 लाख टन और 1990 के दशक के मध्य तक 10.9 करोड़ टन हो गया। यह जैव-रासायनिक तत्वों के उत्पादन की तुलना में 16 गुणा अधिक है। सन् 1945 तक अमरीकी बाजार में पेट्रोलियम आधारित कृत्रिम रेशों का हिस्सा 0.5% था जबकि वनस्पति आधारित कृत्रिम रेशों का हिस्सा 10% था। पेट्रोलियम आधारित कृत्रिम रेशों ने 1980 आते-आते 64% बाजार पर कब्जा कर लिया। शुरुआत में प्लास्टिक का उत्पादन वनस्पति आधारित था लेकिन जब प्लास्टिक का उत्पादन करीब-करीब पूरी तरह पेट्रो-रसायन पर आधारित हो चुका है।

वनस्पति आधारित कच्चे माल से हटकर कोयले और तेल आधारित रसायनों की ओर झुकाव पर्यावरण की दृष्टि से भी हानिकारक रहा है। तेल या कोयले जैसे कार्बनिक खनिज के विखंडन के लिए उच्च दाब, उच्च ताप, तीव्र अकार्बनिक अम्लों और क्षारों की आवश्यकता होती है। पेट्रोरसायनों की उत्पादन-प्रक्रिया में बड़ी मात्रा में ऊर्जा का उपयोग होता है और ग्रीनहाउस गैसों तथा अन्य प्रदूषक तत्वों का भी बड़े पैमाने पर उत्सर्जन होता है।

इस नाटकीय परिवर्तन का कारण रहा है तेलशोधक एवं मोटरगाड़ी उद्योगों का विकास। पेट्रोल और मोटरगाड़ियों के उत्पादन के क्रम में भारी मात्रा में अवशिष्ट-रसायन भी बनते हैं।

तेल कंपनियां इन अवशिष्ट रसायनों का उपयोग करना चाहती थीं। चूंकि इन रसायनों का उत्पादन भारी मात्रा में और बड़े पैमाने पर होता था, इसलिए वनस्पति-आधारित रसायनों की तुलना में ये काफी सस्ती होती हैं और धीरे-धीरे इन्होंने वनस्पति आधारित रसायनों की जगह ले ली।

लेकिन लकड़ी से तरल-रसायन निकाल पाने वाली चारकोल भट्टियों का यदि बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगे तो स्थिति बदल सकती है। तेल-शोधक कारखानों की ही तरह इन भट्टियों से भी बड़ी मात्रा में तरल-रसायन पैदा किया जा सकता है। एक चारकोल-रिटॉर्ट प्रत्येक घनमीटर लकड़ी से 50 लीटर तरल बायोरसायन जमा कर सकता है।

सरकारी क्षेत्र के रासायनिक उद्योगों को लकड़ी से मिलने वाले रसायनों के उपयोग के तरीके खोजने होंगे। अगर इन रसायनों की माँग ही नहीं होगी तो चारकोल बनाने वाले लोग चारकोल-रिटॉर्ट में पैसा ही क्यों लगाएंगे?

दूसरे शब्दों में परिष्कृत चारकोल भट्टियाँ कम से कम आंशिक रूप से तेल और कोयले को चारकोल से विस्थापित कर पाएंगे। साथ ही रासायनिक उद्योगों में प्रयुक्त पेट्रोरसायनों की जगह आंशिक रूप में वनस्पति-आधारित कच्चे माल का प्रयोग भी बढ़ेगा। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि चारकोल का उत्पादन बढ़ने के साथ ही हानिकारक सूक्ष्म-तत्वों तथा अन्य हानिकारक प्रदूषकों के संपर्क में आने का खतरा भी काफी कम होगा।

लोगों के स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से बायोगैस, अल्कोहल और सौर-कूकर का प्रयोग चारकोल की अपेक्षा बेहतर है। उदाहरण के तौर पर 'नीपा पाम स्टैंड साल में 11,000 लीटर तक ईंधन अल्कोहल पैदा कर सकता है लेकिन गरीबों के लिए यह फिर भी मंहगा पड़ेगा। दक्षिण एशिया में एक परिवार की आवश्यकताएं पूरी करने के लायक बायोगैस संयंत्र लगाने का खर्च 200 डॉलर तक आता है जो निम्न आमदनी वाले परिवार की दृष्टि से फिर भी ज्यादा है। वियतनाम में बनाए गए बायोगैस संयंत्रों को बनाने का खर्च 20 डालर के करीब है। इन संयंत्रों को गरीब-वर्ग के लोग भी लगा सकते हैं। वियतनामी बायोगैस संयंत्र दरअसल प्लास्टिक की एक बहुत बड़ी थैली है। इस संयंत्र में गोबर के अलावा, मानव-मल, बासी भोजन, अवशिष्ट फसल और अन्य वनस्पतियों आदि का भी इस्तेमाल किया जाता है।

सौर-कूकर तो और भी सस्ते होते हैं। सौरकूकर के कई मॉडलों की कीमत 20-40 डॉलर तक होती है लेकिन ऐसे सौर कूकर भी बनाए जा सकते हैं जिनकी कीमत कुछ रूपए होगी। इस तरह का कूकर बनाने के लिए मिट्टी, गारा और गोबर की जरूरत होती है जिसे परावलय (Parabola) का आकार दिया जाता है। इसके अलावा थोड़े से अल्युमीनियम के पत्तर और गोंद की जरूरत होती है। जब बर्तन के पेंदे में अल्युमीनियम के पत्तर चिपका दिए जाते हैं तो यह

परावर्तक का काम करते हैं जो सूर्य की किरणों को कूकर के ऊपर टंगे बर्तन पर केंद्रित कर देते हैं।

जल-समस्या

पानी की कमी दुनियाँ की सबसे बड़ी समस्या बनती जा रही है। जल-समस्या के कई आयाम ऐसे हैं जो मूलतः लोकतंत्र से संबंधित मुद्दे हैं।

गर्मियों में खासकर ताजे पानी के स्रोतों की काफी कमी हो जाती है। यह बात भूगर्भीय जल के साथ ही, भूतल पर पाए जाने वाले जल, तालाब और नदियों पर भी लागू होती है। अगर पानी की कमी है तो कौन निर्णय करेगा कि इसका बंटवारा कैसे होगा? स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर जल संसाधनों के न्यायसंगत बंटवारे के लिए किस प्रकार की लोकतांत्रिक-सहयोगात्मक (Participatory) संरचनाओं की आवश्यकता होगी?

जल-संसाधनों का बंटवारा आज तक असमान और अलोकतांत्रिक रहा है। औद्योगिक इकाइयाँ और विद्युत संयंत्र अपने वाजिब हिस्से से अधिक जल-संसाधन आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। ऊर्जा-उत्पादन के उन तरीकों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है जिसके लिए पानी की जरूरत बहुत कम होती है जैसे कि सौर-ऊर्जा, पवन-ऊर्जा और लहरों से मिलने वाली ऊर्जा। अभी भी कोयले और नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों पर ज्यादा जोर है जिन्हें ठंडा करने के लिए बड़ी मात्रा में ताजे-जल की जरूरत होती है।

शहरों में रहने वाले लोग गांव में रहने वाले लोगों की अपेक्षा कई गुणा अधिक जल का उपभोग करते हैं। इसके अलावा शहरों में पानी का एक बड़ा हिस्सा नलों, पाइपों आदि में होने वाले रिसाव के कारण बर्बाद हो जाता है। पानी का उपयोग करने वाले शहरी पाखाने में यदि रिसाव हो तो इसमें एक दिन में बर्बाद हुए पानी की मात्रा शुष्क क्षेत्र के एक गरीब ग्रामीण परिवार द्वारा पानी के सालभर के उपयोग के बराबर हो सकती है।

दुनिया के अधिकांश देशों में कृषि ताजे पानी का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। ऐसी फसलों पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है जिनमें पानी की आवश्यकता कम होती है। अधिक पानी भी आवश्यकता वाली फसलों को भी ऐसी तकनीकों से उगाया जा सकता है जिसमें पानी की जरूरत कम पड़ती है। परंपरागत और 'ड्रिप-सिंचाई', धरती के अंदर ही अंदर पौधों की जड़ों तक पानी पहुंचाने जैसी आधुनिक तकनीकें, इसके लिए विशेषकर उपयुक्त हैं। ऐसी तकनीकों के उपयोग द्वारा कृषि के लिए आवश्यक जल की मात्रा को काफी घटाया जा सकता है। इसके अलावा वर्तमान ताजे जल संसाधनों का न्यायोचित बंटवारा होना चाहिए। इसके लिए स्थानीय स्तर पर लोकतांत्रिक-संस्थाओं का विकास भी आवश्यक है।

बड़े जमींदार गहरे ट्यूबवेल लगा सकते हैं और शक्तिशाली पंप भी बैठा सकते हैं। इसके कारण इनके द्वारा जल संसाधनों का बड़ा भाग हड़प लिया जाता है। कमजोर आर्थिक स्थिति वाले परिवार साधारण और कम गहरे कुएं/ट्यूबवेल खुदवा पाते हैं और इस प्रकार पानी का दोहन भी कम कर पाते हैं। बड़े जमींदारों की ताकतवर पंपों द्वारा इतना ज्यादा भूगर्भीय जल निकाला जाता है कि पूरे क्षेत्र में पानी का स्तर नीचे चला जाता है और गरीबों के उथले ट्यूबवेल आदि सूख जाते हैं। बड़े भूमिपति बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के कारण नदियों से भी अपने हिस्से से अधिक पानी खींच लेते हैं।

परंपरागत तकनीकों पर आधारित सामुदायिक वर्षा-जल हार्वेस्टिंग और संचयन तकनीक स्थानीय जल संसाधनों के लोकतांत्रिक बंटवारे को सुनिश्चित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

दूसरा सवाल है उन नदियों के जल का बंटवारा जो एक से अधिक देशों से होकर बहती हैं। उदाहरण के लिए नील, दजला-फुरात (Tigris-Euphrates), जॉर्डन और सिंधु नदियों के ताजा जल संसाधनों के बंटवारे को लेकर राष्ट्रों के बीच आपसी तनाव बढ़ रहा है।

आज भी जल समस्या का सबसे बड़ा कारण है भूमिगत जल का अत्यधिक प्रयोग। मनुष्य ने आज से 5000 साल पहले कुएं बनाना प्रारंभ किया। ये कुएं सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान आज के भारत और पाकिस्तान के बीच खोदे गए थे। इनमें से ज्यादातर कुएं उथले थे जो प्रायः गर्मी के मौसम में सूख जाते थे। इस समस्या से निबटने के लिए इन प्राचीन सभ्यताओं ने वर्षा जल हार्वेस्टिंग और जलापूर्ति व्यवस्था में इनका संचय करना प्रारंभ किया। ऐसी कई प्रणालियाँ एशिया, उत्तरी अफ्रीका, लैटिन अमेरिका आदि में पाई जाती हैं जिनके आधार पर कई सभ्यताएं हजारों सालों तक जीवित रहीं।

दक्षिणी गोलार्द्ध में बड़े पैमाने पर ट्यूबवेल का प्रचलन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रारंभ हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले भारत में मात्र कुछ हजार ट्यूबवेल थे, आज इनकी संख्या बढ़कर करोड़ों हो चुकी है। ट्यूबवेल लाखों-करोड़ों लोगों को साफ और सुरक्षित जल उपलब्ध कराते हैं। लेकिन कुछ क्षेत्रों में बहुत ही कम समय में बड़ी संख्या में ट्यूबवेल लग गए जिनसे भारी मात्रा में पानी का दोहन किया गया। इन ट्यूबवेलों का उपयोग सुरक्षित पेयजल या घरेलू उपयोग के लिए पानी उपलब्ध कराने के लिए नहीं किया गया। मुख्य रूप से इनका उपयोग सिंचाई के लिए किया गया। भूगर्भीय जल संसाधनों का इस पैमाने पर दोहन टिकाऊ नहीं हो सकता। लोगों ने जिस गति से भूगर्भीय जल स्रोतों का दोहन किया उस गति से उन स्रोतों को भरना संभव नहीं था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कुछ संगठनों का अनुमान है कि पिछले 50 वर्षों में सहजता से उपलब्ध भूजलस्रोतों का इतना गहन दोहन हुआ है कि अफ्रीका में दो-तिहाई और एशिया तथा लैटिन अमरीका में ऐसे करीब आधे स्रोत आज समाप्त हो चुके हैं।

मध्यपूर्व, दक्षिण एशिया, चीन, अमरीका और अफ्रीका में भूगर्भीय जल का स्तर 1-4 मीटर प्रतिवर्ष की दर से नीचे जा रहा है। इसके कारण अनाज उत्पादन बुरी तरह प्रभावित हो सकता है। उदाहरण के लिए चीन, मिस्र, भारत, इंडोनेशिया और पाकिस्तान में आधे से अधिक अनाज का उत्पादन सिंचाई पर निर्भर करता है। सिंचाई के बल पर इन देशों में जमीन से सालाना दो या तीन फसलें ली जाती हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि हर साल भूगर्भीय जल संसाधनों का जितना दोहन किया जाता है वह भूगर्भ को वापस लौटे जल की मात्रा से एक खरब घन मीटर अधिक है। 'इंटरनैशनलवाटरमैनेजमेंटइंस्टीट्यूट' के अनुसार तेजी से घटते हुए भूगर्भीय जल भंडार का दुष्प्रभाव भारत के एक चौथाई अनाज उत्पादन पर पड़ सकता है। चीन में भी स्थिति इतनी ही गंभीर है।

भूजल पर दबाव जनसंख्या की वृद्धि जैसे कारणों से बढ़ रहा है। आर्थिक वैश्वीकरण के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध में परंपरागत शाकाहारी परंपराओं को छोड़कर मांसाहार करने वाले लोगों की संख्या बढ़ रही है। एक आदमी के लिए बनाए गए अमरीकी भोजन (जिसमें मांस की मात्रा काफी होती है) में एशियाई भोजन की तुलना में दुगुने पानी की जरूरत होती है। यह इसके बावजूद कि एशियाई खाने में चावल एक प्रमुख अवयव है और धान की खेती में काफी पानी खर्च होता है।

एक समस्या यह है कि उद्योगों और शहरों में पानी की खपत तेजी से बढ़ रही है। लोग जब गाँव से शहर आते हैं तो वो भूल जाते हैं कि पानी कहाँ से प्राप्त होता है। 'इंटरनैशनलफूड रिसर्चइंस्टीट्यूट' के मार्क रोजेनग्रान्ट और क्लाउडिया रिंगलर के अनुसार दुनियाँ के जल-उपभोग में शहरी घरों और उद्योगों का हिस्सा सन् 2020 तक 13% से बढ़कर 27% हो जाएगा। यदि उपभोग किए जाने वाले जल की यह बढ़ी हुई मात्रा सिंचाई से लेकर पूरी की जाएगी तो दुनियाँ का खाद्यान्न उत्पादन 1/6 गुणा घट सकता है। 'पॉपुलेशनएक्शनइंटरनैशनल' के अनुसार सन् 2025 तक 2.8-3.5 अरब लोगों को गंभीर जल संकट का सामना करना पड़ सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के GEO 2000 कार्यक्रम ने तो और भी निराशाजनक तस्वीर प्रस्तुत की है। इसके अनुसार शीघ्र ही दुनियाँ की दो तिहाई जनता को गंभीर जल संकट से जूझना पड़ सकता है। IPCC (International Panel on Climatic Change) ने भविष्यवाणी की है कि 20 साल के बाद 5 अरब लोगों को जल संकट का सामना करना पड़ेगा।

पर्यावरण में बढ़ते ग्रीनहाउस गैसों के कारण पृथ्वी की जलवायु में होने वाली अपेक्षित तापमान वृद्धि इन समस्याओं को और भी गंभीर बना देगी। जलवायु में होने वाले परिवर्तनों के कारण बारिश तो अधिक होगी लेकिन वाष्पीकरण की गति और भी तेज हो जाएगी। एक

अनुमान के अनुसार उष्णकटिबंध के तापमान में 4⁰ सेंटीग्रेड की वृद्धि के कारण बारिश की मात्रा तो 12% बढ़ेगी, वाष्पीकरण 30% बढ़ जाएगा। इसके परिणामस्वरूप उष्णकटिबंध और इसके आसपास का क्षेत्र काफी शुष्क हो जाएगा।

स्पष्ट है कि अगर ऐसा ही होता रहा तो एक असंभव सी स्थिति पैदा हो जाएगी - हमारे पास अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लायक पानी बचेगा ही नहीं। इसके कारण देश के अंदर या दो देशों के बीच पानी के लिए गंभीर संघर्ष पैदा हो सकते हैं। खतरा इस बात का है कि एक बार फिर सबसे ज्यादा नुकसान गरीबों का ही होगा। अमीर किसान अपने कुएं गहरे करवा सकते हैं जबकि गरीबों के कुएं सूखे ही रहेंगे। शहरों में रहने वाले लोग ग्रामीण जनता की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। उद्योगों में उपयोग किए जाने वाले एक टन पानी से, डॉलर के रूप में, सिंचाई के लिए उपयोग किए जाने वाले एक टन जल भी अपेक्षा 70 गुणा अधिक कमाई हो सकती है। लेकिन दूसरी ओर किसी भी औद्योगिक वस्तु की तुलना में खाद्य पदार्थ लोगों के लिए अधिक महत्वपूर्ण हुआ करता है।

इसी से जुड़ा एक सवाल है - भूगर्भीय जलस्रोतों का प्रदूषण और उनका विषाक्त होना। सबसे भयंकर स्थिति बंगलादेश और भारत के पश्चिम बंगाल, बिहार और आंध्रप्रदेश में फैली आर्सेनिक प्रदूषण की समस्या है जिससे 15 करोड़ लोग धीरे-धीरे पानी में घुले इस जहर के शिकार हो रहे हैं। महामारी विशेषज्ञों ने चेतावनी दी है कि अगर जल्द कदम नहीं उठाए गए तो बंगलादेश के गंभीर रूप से प्रभावित क्षेत्रों में होने वाली 10% मौतें आर्सेनिक के कारण होंगी। बंगलादेश और भारत के कुछ राज्यों की यह स्थिति अपवाद नहीं है। यह एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति की ओर इशारा करती है जिसका गंभीर रूप इन देशों में दिखाई दे रहा है।

'वर्ल्डवाच इंस्टीट्यूट' में कार्यरत पायल संपत के अनुसार भूजल संसाधन धीरे-धीरे विषाक्त होते जा रहे हैं। इसके प्रमुख कारण हैं - कीटनाशक, रासायनिक खाद और गलत ढंग से बने गड्ढे वाले शौचालयों से बनने वाले नाइट्रेट, कूड़े का ढेर, कार और इनके सर्विस स्टेशनों से होने वाला तेलों का रिसाव और औद्योगिक कचरा। मुख्य समस्या यह है कि इन जहरीले तत्वों को भूगर्भीय जल तक पहुँचने में कई दशक तक लग जाते हैं। आज हम भूगर्भीय जल में जिन जहरीले तत्वों को पाते हैं उनका काफी पहले धरती के अंदर रिसाव हुआ था। उस समय की तुलना में धरती के अंदर डाले गए विभिन्न रसायनों और रासायनिक कचरों का भंडार कई गुणा बढ़ चुका है। वृहतमात्रा में प्रदूषक तत्व भूगर्भीय जल की ओर बढ़ रहे हैं। भूगर्भीय जल संबंधी आज की समस्या तो भविष्य की एक हल्की सी झाँकी भर है।

भारत के 22 औद्योगिक केंद्रों में हाल में किए गए सर्वेक्षण से पता चला है कि इनके आसपास के क्षेत्रों का भूगर्भीय जल घरेलू-उपयोग या पीने के लायक नहीं बचा है। 'वर्ल्डवाच इंस्टीट्यूट' के अनुसार ऐसे करीब दो अरब लोग जो भूगर्भीय जल का इस्तेमाल करते हैं उनमें शीघ्र ही इस के प्रदूषण का खतरा झेलना पड़ सकता है।

इस समस्या का सबसे अच्छा समाधान है - विभिन्न प्रकार के परंपरागत जल-हार्वेस्टिंग और संचयन विधियों को पुनर्जीवित एवं विकसित करना। दुनिया के शुष्कतम इलाकों में भी जल-हार्वेस्टिंग और संचयन की तकनीकों का उपयोग कर लोगों के लिए आवश्यक मात्रा में पीने, घरेलू उपयोग और सिंचाई के लिए जल की व्यवस्था संभव है। मात्र 100 मिलीलीटर की बारिश से प्रति हेक्टेयर 1000 घनमीटर अर्थात 10 लाख लीटर पानी धरती पर गिरता है। भारत में कम से कम 5 लाख ऐसे प्राचीन तालाब हैं जिनमें पानी जमा करने के लिए बनाया गया था। उदाहरण के लिए तमिलनाडु में इस प्रकार के 30,000 तालाब हैं जिन्हें 'इरिस' (Eris) कहा जाता है। ये जल संचयन की एक विशाल व्यवस्था का निर्माण करते हैं जिनमें ईट से बने लाखों छोटे-छोटे बांध और 50,000 किलोमीटर लंबी अन्य संरचनाएं शामिल हैं।

भारत के कई हिस्सों, पाकिस्तान, चीन, अफगानिस्तान, ईरान, मध्यपूर्व और उत्तरी अफ्रीका में लोग क्षैतिज कुएं बनाया करते थे। ये कुएं मिट्टी की गहरी परतों से पानी जमा कर आसपास के आबादी वाले क्षेत्रों तक पहुंचाने का काम करते थे। अफगानिस्तान, पाकिस्तान और चीन के सिक्क्यांग प्रदेशों में इन्हें 'करेज' (Karez) कहा जाता है। भारत के पश्चिमी तट पर ये सुरंगम और मोरक्को में 'फोगारा' (Foggara) कहलाती हैं। ईरान में इन्हें 'क्वांटाज' कहते हैं। ईरान में कुल 40,000 क्वांटा हैं जिनकी कुल लंबाई 2,70,000 किलोमीटर है। सबसे बड़ा क्वांटा 40-50 किलोमीटर लंबा है।

इन क्षैतिज-कुओं का एक बुरा पक्ष भी है। इन्हें बनाने में बहुत बड़ी मात्रा में मजदूरों की आवश्यकता हुई थी। संभव है कि इनमें से कई कुएं गुलामों की मेहनत से बने हों जिनमें कई लोग मरे भी होंगे। लेकिन अब हम ऐसे कुएं श्रमिकों की सुरक्षा करते हुए भी बना सकते हैं।

ये कुएं अब भी बखूबी काम कर रहे हैं जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। इस तकनीक को नवजीवन देना एक सुंदर सोच है। कई क्षैतिज-कुएं हजारों सालों से हमें अच्छे किस्म का पेय जल दे रहे हैं। सिक्क्यांग की जलापूर्ति का एक तिहाई अभी भी इन्हीं 'करेजों' से प्राप्त होता है। ईरान में 1950 ई. तक जलापूर्ति का तीन चौथाई 'क्वांटाज' से आता था। लेकिन इसके बाद शाह रजा पहलवी द्वारा देश के अति-पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में इस प्रणाली का ह्रास होने लगा।

कई देशों में लोगों ने भूगर्भजल को जमा करने के लिए मिट्टी खोदकर गड्ढे जैसी संरचनाएं बनायी हैं जिनमें मिट्टी की दीवारें होती हैं और इनमें कंकड़-पत्थर भरे होते हैं। राजस्थान के शुष्क क्षेत्रों में काम करने वाली संस्था तरुण भारत संघ ने इन परंपरागत तकनीकों का इस्तेमाल कर नदियों को फिर से जिंदा करने में सफलता पायी है। तरुण भारत संघ ने हजारों ग्रामीण संसदों का आयोजन किया है। यह स्थानीय स्तर पर 'पारिस्थितिकीय लोकतंत्र' के प्रयोग का एक महत्वपूर्ण मॉडल उपस्थित करता है।

जैव विविधता का हास और जीनक्षरण (Genetic Erosion)

जीन-क्षरण का अर्थ है जैव विविधता में कमी। इस क्रम में या तो पूरी प्रजातियां नष्ट हो जाती हैं या फिर एक प्रजाति की कुछ किस्में समाप्त हो जाती हैं।

जैव-विविधता को भी पारिस्थितिकीय-लोकतंत्र के मुद्दे के रूप में देखना चाहिए। भविष्य की पीढ़ियों के लिए हमें कितनी जैव-विविधता संरक्षित करनी चाहिए? क्या यह हमारा कर्तव्य नहीं है कि एक हजार साल बाद पृथ्वी पर आने वाली पीढ़ियां भी व्हेल या बाघ को देख पाएं?

रोग पैदा करने वाले बैक्टीरिया की कई किस्में तेजी से पनप रही हैं जिनपर एंटीबायोटिक दवाओं का असर नहीं होता। बहुत ही जल्द कई एंटीबायोटिक दवाएं पूरी तरह बेअसर हो सकती हैं। भविष्य की पीढ़ियों को नयी एंटीबायोटिक दवाएं कहां मिलेंगी ताकि उनके बच्चे निमोनिया, टी.बी. या घावों के संक्रमण से काल के गाल में न समाएं?

एंटीबायोटिक दरअसल ऐसे तत्व हैं जिनका उपयोग फफूंदियां (Fungi) खुद को बैक्टीरिया से बचाने के लिए करती हैं इसके अलावा विभिन्न पौधे, कीड़े-मकोड़े और समुद्री जीवजंतुओं के पास बैक्टीरिया से बचने के लिए अपनी सुरक्षा व्यवस्था होती है। इसके बिना ये जिंदा नहीं बच सकते। इसका अर्थ है जैव विविधता से भरे समुद्री क्षेत्र भविष्य में नयी विषाणु-विरोधी (Anti-Microbial) दवाओं के खोजकर्ताओं के लिए खजाने जैसे होंगे। इस कारण से भी यह आवश्यक है कि हम अपने वनों, मूंगे की चट्टानों (Coral Reefs) की रक्षा करें। यह आज की और भविष्य की पीढ़ियों के बीच लोकतंत्र का सवाल है।

दूसरा मुद्दा है कि महत्वपूर्ण खाद्यान्नों के 'कल्टीवार' (Cultivar) को विकसित करने का अधिकार और उनके जीन-भंडार पर किसका नियंत्रण हो? आज हम तेजी से एक ऐसी स्थिति की ओर अग्रसर हो रहे हैं जहां हमारे सर्वाधिक महत्वपूर्ण खाद्यान्नों के जीन भंडार पर मॉनसेंटों जैसी कुछेक विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कब्जा बढ़ता जा रहा है। यह निश्चय ही एक बहुत ही खतरनाक स्थिति है। यह व्यवस्था जितनी ही केंद्रीकृत होती है, नुकसान का खतरा उतना ही अधिक है।

एक ऐसी व्यवस्था जिसमें लाखों-करोड़ों किसान फसलों की विभिन्न किस्में खुद पैदा करेंगे जिनपर उन्हीं का अधिकार भी होगा और जिसके अंदर किसान-संगठन अच्छे बीजों का आपस में आदान-प्रदान कर पाएंगे खाद्यान्न-सुरक्षा और लोकतंत्र दोनों ही दृष्टियों से बेहतर होगा।

पौधों को पैदा करने की यह विकसित परंपरागत प्रणाली यह सुनिश्चित कर पाएगी कि हमारे खाद्यान्न-फसलों की जीन-विविधता का स्तर बरकरार रहेगा। इसके परिणामस्वरूप

बैक्टीरिया, वायरस या फफूंद से होने वाली बीमारियों या कीटनाशकों से अप्रभावित रहने वाले कीटों के हमले के बावजूद महत्वपूर्ण फसलों की कोई भी किस्म पूरी तरह नष्ट नहीं होगी। इसके कारण खाद्यान्न उत्पादन व्यवस्था किसानों के अपने संगठनों के हाथों में रहेगी और वो बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दया पर निर्भर नहीं रहेंगे। दुनिया के कई हिस्सों में बीज-संरक्षक नेटवर्क, पर्यावरण चेतना से परिपूर्ण शोध संस्थाएं और किसान-संगठन इस परिकल्पना को साकार बनाने में जुटी हुई हैं।

जीव वैज्ञानिक 15-18 लाख जैव-प्रजातियों की चर्चा करते हैं। लेकिन अनुमान लगाया जाता है कि जैव-प्रजातियों की कुल संख्या 36 लाख से 10 करोड़ के बीच होगी। समुद्री पारिस्थितिक तंत्र में रहने वाली जैव प्रजातियों की संख्या के बारे में अनुमान लगाना कठिन है। 1971 में अनुमान लगाया जाता था कि इन जीवों की संख्या 1,60,000 है। आज यही संख्या 1-10 करोड़ के बीच आंकी जाती है। जमीनी पारिस्थितिक तंत्र में पाए जाने वाली जीव-प्रजातियों में अधिकांश उष्णकटिबंधीय जंगलों में पाई जाती है। अमेजन के विशाल वर्षा-वनो में ही जमीन पर पायी जाने वाली जैव-प्रजातियों की एक-तिहाई प्रजातियां पाए जाने का अनुमान है।

लेकिन जीन-क्षरण (Genetic Erosion) का सबसे गंभीर पहलू है हमारे प्रमुख खाद्यान्न फसलों के जीन-आधार (Genetic Foundation) में आने वाली कमी। दुनिया में पौधों की 2.5 लाख से 3.00 लाख प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इनमें से 10,000 से 50,000 प्रजातियों की अपने मूल जंगली-स्वरूप में भी खाद्यान्न के रूप में इस्तेमाल के लायक हैं। अन्य प्रजातियों को चयनित प्रजनन (Selective Breeding) विधि से खाने के लायक बनाया जा सकता है। पहले लोग बड़ी संख्या में खाद्य-वनस्पतियों का उपयोग किया करते थे। उत्तरी अमरीका के मूल निवासी खाने में कम से कम 1112 तरह के पेड़-पौधों का इस्तेमाल करते थे। ध्यान देने की बात है कि यह क्षेत्र जैव-विविधता की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं है।

आजकल हम वनस्पतियों की करीब 150-200 प्रजातियों का ही इस्तेमाल अपने भोजन में करते हैं। मानव द्वारा उपभोग की जाने वाली कैलोरी और प्रोटीन की कुल मात्रा का आधे से अधिक चावल, मक्के और गेहूँ से प्राप्त होता है। आज जिन खाद्यान्नों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा रहा है उसका जीन-आधार भी खतरनाक ढंग से संकरा होता जा रहा है।

एक अनुमान के अनुसार दक्षिण एशिया में ही चावल की 5 लाख किस्में हुआ करती थीं। नयी अधिक उपज वाली किस्मों ने इनमें से अधिकांश को नष्ट कर दिया है। 1982 ई. में फिलिपींस, इंडोनेशिया और वियतनाम में चावल के कुल उत्पादन का 60% सिर्फ एक किस्म IR-36 पर आधारित था। मिस्र में प्याज की खेती पिछले 7000 वर्षों से हो रही है लेकिन आज सर्दियों में उपजाए जाने वाली प्याज की सिर्फ एक किस्म 'गीजा-6 इंप्रूव्ड' ही बची हुई है। सऊदी अरब और लेबनान में कुछेक नयी किस्मों के आते ही गेहूँ की जैव विविधता का 70%

समाप्त हो गया। आज हर साल हमारे महत्वपूर्ण खाद्यान्न वनस्पतियों में 2% किस्में समाप्त होती जा रही हैं।

हमारे प्रमुख खाद्यान्न फसलों के जीन-आधार में तीव्रगति से हो रही कमी एक गंभीर मुद्दा है। परंपरागत खेती के तरीके में जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर दर्जनों प्रकार के पौधे लगाए जाते थे। यह काफी हद तक कीड़ों और बीमारियों से फसलों को होने वाले नुकसान को कम कर देता था। चूंकि खेतों में एक साथ कई किस्मों की फसलें और पौधे लगे होते थे, इसलिए बीमारियां और कीड़े तेजी से नहीं फैल पाते थे। फसलों का जीन-आधार विस्तृत होने के कारण यह भी संभव था कि यदि एक पौधे में कीड़े या बीमारियां लग भी जाती थीं तो दूसरा पौधा अप्रभावित रह सकता था। पौधों की विभिन्न किस्मों के अंदर नुकसानदेह कीड़ों को खानेवाले मकड़े, चीटियाँ आदि रहा करते थे जो पौधों को बीमारियों से बचाते थे।

आजकल प्रयोग में लायी जाने वाली एक किस्म वाली कृषि (Monoculture) इस व्यवस्था के ठीक विपरीत है। इस व्यवस्था में समान जीन-किस्मों वाली एक प्रजाति ही खेतों में लगायी जाती है। इस प्रकार के कृषि क्षेत्र फसलों की बीमारियों और हानिकारक कीटों को द्रुतगति से फैलने की सुविधा प्रदान करते हैं जिसके कारण पूरी की पूरी फसल देखते-देखते बर्बाद हो सकती है।

इसी प्रकार की एक भयावह घटना है-1840 ई. में आयरलैंड में घटित आलू के अकाल की। उस समय आयरलैंड में आलू की कुछ किस्में ही उगायी जाती थी। इन में से कोई भी किस्म 'पोटैटो ब्लाइट' नाम की फफूंद को बर्दाश्त नहीं कर पाती थी। जब आयरलैंड में 'पोटैटो-ब्लाइट' का हमला हुआ तो पूरी की पूरी फसल बर्बाद हो गयी। इसके कारण फैले अकाल में 10 लाख लोग मारे गए और 20 लाख लोगों को अमरीका भागना पड़ा। कुछ सालों में ही आयरलैंड की आबादी 60 लाख से घटकर 30 लाख हो गयी।

कल्पना की जा सकती है कि ऐसी ही कोई घटना आज प्रचलित चावल की उन किस्मों के साथ हो जाए, जिन्होंने पिछले दशक में लाखों स्थनीय किस्मों को हटाकर अपना एकाधिकार कर लिया है, तो क्या होगा? इस विषय में रिचर्ड डाउथवेट का कहना है - "बहुत कम लोग जानते हैं कि यह (खाद्य) व्यवस्था जीन की दृष्टि से टिकाऊ नहीं है और अचानक ही भरभराकर ध्वस्त हो सकती है। इसके कारण लाखों-करोड़ों लोगों की भूख से मौत हो सकती है। इसका राजनीतिक, सामाजिक और सामरिक परिणाम नाभिकीय युद्ध के जैसा ही होगा।"

एक किस्म वाली कृषि व्यवस्था में बीमारियों और हानिकारक कीटों से सामना करने के दो तरीके हैं। पहला तरीका है कि जब भी कोई नई बीमारी या हानिकारक कीट संबंधी बड़ी समस्या खड़ी होती है तो बीज-निर्माता कंपनियां इनकी प्रतिरोधक क्षमता वाली किस्में विकसित करने की कोशिश करती हैं। लेकिन इसमें काफी समय लगता है और तब तक काफी नुकसान

हो चुका होता है। फिर, इन पौधों की प्रतिरोधक क्षमता भी ज्यादा दिनों तक नहीं टिकती। पौधों की बीमारियां और हानिकारक कीट लगातार विकासशील और परिवर्तनशील होते हैं। चूंकि इन बीमारियों या कीटों का जीन भंडार (Gene Pool) बहुत ही बड़ा और विविध होता है, ये शीघ्र ही नयी किस्मों पर हमला करने की क्षमता पैदा कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि फसलों की प्रतिरोधक क्षमता स्थायी नहीं होती और इन्हें नई जीनों की मदद से लगातार नया और परिपूरित बनाया जाता है।

जैसा कि कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डॉ. जे.पी. केंड्रिक कहते हैं - “अगर हम भविष्य में फसलों के जीन-संबंधी खतरे से बचने के लिए अमरीका में उपलब्ध जीन-संसाधनों का ही प्रयोग करें तो हमें कई साल पहले हुए दक्षिणी मक्के की पत्ती पर हुए ब्लाइट (Southern Corn leaf Blight) के बराबर या उससे भी अधिक नुकसान सहना पड़ सकता है। इसका खतरा सभी फसलों के लिए तेजी से बढ़ती गति से घटित होने की संभावना है।”

समस्या यह है कि जब खेती किए जाने वाले पौधों का जीन-आधार संकीर्ण हो जाता है तो बीज-उत्पादकों के पास 15,000 ज्ञात हानिकारक कीटों के खिलाफ प्रतिरोधी क्षमता पैदा करने वाले तत्व की कमी होने लगती है।

महत्वपूर्ण खाद्य फसलों के विभिन्न कल्टीवार (Cultivar) को अंतर्राष्ट्रीय जीन बैंकों में जमा करने की गंभीर कोशिशें चल रही हैं। लेकिन जीन बैंकों में रखे जाने के कुछ समय बाद बीजों की अंकुरित होने की क्षमता समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ यह होता है कि इस स्टॉक को निश्चित समय के अंदर नए बीजों को फिर से संरक्षित करना आवश्यक है। लेकिन नये बीज की जीन-संरचना पुराने बीज की तुलना में थोड़ी अलग होती है। मूल किस्म एक खास क्षेत्र में पौधे के क्रमिक विकास (Evolution) की प्रक्रिया में पैदा हुई होती है। जब हजारों-लाखों क्षेत्रों से जमा किए बीजों को एक जगह बोया जाता है, तो इस प्रक्रिया में वो किस्में या गुण अधिक विकसित होते हैं जो उस स्थान विशेष की परिस्थितियों और जरूरतों से मेल खाती है। ऐसे गुण या विशेषताएं जो उस स्थान से मेल नहीं खाती, और इनसे संबंधित जीन-तत्व हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं। इसलिए जीन-बैंक के द्वारा हम सदियों तक जैवविविधता को नहीं बचा सकते। इसका एक ही तरीका है कि हम किसानों या ग्रामीण समुदाय को उनके हजारों लाखों खेतों में छोटे-छोटे बीज-भंडार रखने के लिए आर्थिक सहायता दें।

नुकसान को कम करने का दूसरा तरीका है कीटनाशक एवं फफूंदनाशक दवाओं का प्रयोग। इसकी अपनी कई समस्याएं हैं। कीटनाशक हानिकारक कीटों के प्राकृतिक-दुश्मनों को भी समाप्त कर देता है। कभी-कभी तो जिन हानिकारक कीटों पर दवा का प्रयोग किया जाता है वो जल्दी दवा के प्रभाव से निकल आते हैं जबकि उन्हें नष्ट करने वाले मित्रकीटों को देर लगती है। खेतों में किए गए परीक्षणों में देखा गया है कि गलत मात्रा में और गलत समय पर किए गए कीटनाशकों के प्रयोग के कारण हानिकारक कीटों की संख्या 1250 गुणा बढ़ सकती है।

बड़े पैमाने पर कीटनाशकों के प्रयोग के कारण चावल के कई ऐसे हानिकारक कीटों में तेज उभार आया है जो पहले उतने महत्व के नहीं थे। इनमें से एक है 'ब्राउन प्लांटहॉपर' (Brown Planthopper) यह 1980 ई. में चावल की फसल में लगने वाला एशिया का सबसे खतरनाक हानिकारक कीट था। इसने दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में अभूतपूर्व गति से धान की फसल को बर्बाद करना प्रारंभ कर दिया था। अनुमान लगाया गया है कि अमरीका में यदि कीटनाशकों का इस्तेमाल बंद कर दिया जाए तो हानिकारक कीटों के कारण फसलों का नुकसान 33% से बढ़कर 42% हो जाएगा। यह मजेदार बात है कि कीटनाशकों और अन्य रसायनों के उपयोग के बावजूद अमेरिका में हानिकारक कीटों के कारण एक तिहाई फसलें बर्बाद हो जाती हैं। इसकी तुलना परंपरागत कृषि से की जा सकती है जिसमें कीट एवं फफूंदनाशकों का इस्तेमाल नहीं होता और दर्जनों किस्म की वनस्पतियों और पेड़-पौधों की खेती जमीन के एक टुकड़े में एक-साथ की जाती है। हो सकता है इस प्रकार की खेती में काफी कम नुकसान होता हो।

दूसरी समस्या है रसायनों के खिलाफ होने वाली प्रतिरोधक क्षमता का विकास। नुकसानदेह कीटों, वायरसों तथा फफूंद में बदले परिवेश के अनुरूप अपने को ढालने की क्षमता होती है। इसी क्षमता के कारण ये मानव-निर्मित जहर के खिलाफ प्रतिरोधक क्षमता भी विकसित कर लेते हैं। जब हानिकारक कीटों में से कुछ कीट किसी कीटनाशक से बचने का तरीका ढूँढ लेते हैं तो इसके बाद कीटनाशकों के छिड़काव से उन कीटों को फायदा होता है जिनकी जीन-संरचना उन्हें कीटनाशकों के बावजूद जिंदा रह पाने की क्षमता प्रदान करती है। चूँकि कीटनाशक बाकी सभी कीटों को मार देता है इसलिए कीटनाशकों की प्रतिरोधक क्षमता वाले कीट की आबादी उस क्षेत्र में बढ़ती जाती है।

रासायनिक उद्योगों ने उन कीटनाशकों की जगह नई कीटनाशक दवाओं के विकास की कोशिश की है जो कई क्षेत्रों में अब बिल्कुल बेअसर हो चुकी है। आज तक वैज्ञानिकों ने जितनी जल्दी नए कीटनाशक बनाए हैं, हानिकारक कीटों ने उससे भी जल्दी प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर ली है। 'रॉथमस्टेडएक्सपेरिमेंटलस्टेशन' में कार्यरत डा. साविस्की का कहना है - "ज्ञात प्रतिरोधक क्षमता से निबटने के लिए आवश्यक है वैकल्पिक कीटनाशकों का विकास जिनके खिलाफ प्रतिरोधक क्षमता का विकास नहीं हुआ है। लेकिन यह समाधान भी तात्कालिक ही है क्योंकि समय बीतने के साथ इस वैकल्पिक कीटनाशक के खिलाफ भी प्रतिरोधक क्षमता विकसित हो जाती है। और फिर किसी नए तत्व की जरूरत होती है। हर नया कीटनाशक प्रतिरोधक क्षमता के कुछ तरीकों का चुनाव करता है। हर तरीका एक साथ कई कीटनाशकों के खिलाफ प्रतिरोधक क्षमता पैदा करता है।"

प्रतिरोधक क्षमता विकसित हो जाने के कारण किसान भारी मात्रा में एक साथ कई कीटनाशकों का प्रयोग करने को मजबूर हो जाते हैं। ताजा अनुमानों के अनुसार कीटनाशकों के जहर से सालाना तीन लाख लोगों की मौत होती है। कीटनाशकों से मधुमक्खियाँ और अन्य ऐसे

कीट भी मारे जाते हैं जो फलों और अन्य फसलों में परागण (Pollination) का काम करते हैं। परागण करने वाले इन कीटों में कमी होने से उन फसलों की उपज कम हो जाती है जिनमें इन कीटों से परागण होता है।

कई देशों में धान के खेतों में मिलने वाली मछलियाँ और झींगा (Shrimp) लोगों के लिए पशु-प्रोटीन का महत्वपूर्ण स्रोत रही है। सन् 1969 में 30 लाख हेक्टेयर धान के खेतों से करीब 6 लाख टन मछली मारी गयी थी। लेकिन 'क्लोरीनेटेड हाइड्रोकार्बन' और अन्य कीटनाशकों के प्रयोग के कारण धान के खेतों से झींगा एवं अन्य मछलियां करीब-करीब समाप्त हो गयीं। बाकी बची मछलियां इतनी जहरीली हो चुकी थीं कि उन्हें खाना संभव नहीं था। इसी कारण इंडोनेशिया की सरकार 1980 के दशक में 'समेकित कीट व्यवस्था' (Integrated Pest Management - IPM) लागू करने की ओर प्रेरित हुई।

परिस्थितिकीय भूमि-सुधार और भूमि की उर्वराक्षमता से जुड़े मुद्दे

खाद्यान्नों की आवश्यक उपलब्धता मनुष्य की एक मूल आवश्यकता है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं तभी ठीक ढंग से काम कर सकती हैं जब जनता भुखमरी से मुक्त हो। भूखे आदमी को डराना-धमकाना बहुत आसान होता है। इस बात को नॉर्डिक देशों के किसान-संगठनों ने बखूबी समझा है। नॉर्डिक ट्रेड यूनियनों और कामगार पार्टियों ने शहरी फैक्टरी मजदूरों के लिए छोटे-छोटे खेत एवं बगीचे प्राप्त करने का महत्व समझा। जमीन का यह टुकड़ा खाद्यान्न सहायता कार्यक्रमों पर उनकी निर्भरता को काफी कम करता है। ऐसा समझा गया कि मजदूर अपने लिए बेहतर मजदूरी की माँग करने से तब तक डरते रहेंगे जब तक उन्हें यह भरोसा न हो कि उनके परिवारों को अगली-सर्दियों में भी पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध रहेगा। एक सीमा तक यह सोच सही थी। शहरों के आसपास बाग-बगीचों और खेतों के कारण ये ट्रेड यूनियनों ताकतवर बनकर नॉर्डिक देशों में लोकतंत्र एवं समता को बढ़ावा देती रही हैं।

अधिकतर देशों में भूव्यवस्था अभी भी बहुत असमान है। ब्राजील के 20 सबसे बड़े जमींदारों के पास 1.7 करोड़ हेक्टेयर जमीन है जबकि 70 लाख ग्रामीण परिवार भूमिहीन हैं। भूमिसुधार गरीबी कम करने और कृषि उत्पादन बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण तरीका है। अमरीकी कृषि मंत्रालय द्वारा किए गए एक अध्ययन के अनुसार 15 दक्षिणी देशों में दो हेक्टेयर या उससे छोटी आकार की भूमि के टुकड़े से हर साल औसतन 3500 डॉलर के बराबर खाद्यान्न की उपज होती है। लेकिन 2000 हेक्टेयर से बड़े खेतों की औसत सालाना उपज मात्र 30 डॉलर प्रति हेक्टेयर ही पायी गयी। 120 गुणे का यह अंतर बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस अद्भुत आँकड़े की एक ही व्याख्या है। छोटे किसान अपने खेतों को बहु मंजिले घरेलू बगीचे की तरह देखते

हैं। ये किसान इन खेतों में खाद्य उत्पादक पेड़, झाड़ियाँ, अंगूर और अनेक सालाना खाद्य वनस्पतियाँ वगैरह लगाते हैं। दूसरी ओर बड़े भूमिपति अपनी जमीन का ज्यादातर हिस्सा पशुओं के लिए चारागाह के तौर पर इस्तेमाल करते हैं।

भूमि-सुधार पर्यावरण के दृष्टिकोण से हमेशा अच्छे नहीं रहे हैं। कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ सरकार और बड़े जमींदारों ने मिलकर भूमिहीन परिवारों को वर्षा-वन वाले इलाकों में ले जाकर बसा दिया है। ऐसी घटना ब्राजील एवं इंडोनेशिया में बड़े पैमाने पर हुई है। इस तरह की पुनर्वास योजनाओं के लिए जंगल के मूल निवासियों से जमीनें जबर्दस्ती छीनी जाती है।

मूल निवासियों ने अनेक स्थानों पर वर्षा-वन की जमीन का लंबे समय तक टिकाऊ उपयोग किया है। वे सालाना फसल वाले पेड़ों को अपनी खेती में इस्तेमाल करते हैं। लेकिन बाहर से आकर बसने वाले लोग इन विधियों को नहीं जानते। जब भी वर्षा-वन की जमीन का उपयोग परंपरागत खेतों के रूप में या चारागाह के रूप में करने की कोशिश की गयी है तो कुछ ही साल में जमीन के पोषक तत्व समाप्त हो जाते हैं। इसके बाद इन वन-क्षेत्रों में बसने वाले लोग जंगल के बीच नए खेत बनाते हैं। जंगलों के विनाश की यह प्रक्रिया साल दर साल चलती रहती है। यहां बसने वाले लोग भी वर्षा-वन क्षेत्रों में पनपने वाली मलेरिया जैसी खतरनाक बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं।

हमें शायद 'पारिस्थितिकीय भूमि-सुधार' जैसी अवधारणाओं के बारे में विचार करना चाहिए। इस विचार का प्रतिपादन सबसे पहले ब्राजील के रबड़ संग्राहक संघ (Rubber Tappers Union-CNS) ने किया। शुरुआत में इस कार्यक्रम के अंतर्गत अमेजन के वर्षा-वन क्षेत्रों में विशेष संरक्षित क्षेत्र 'एक्स्ट्राएक्टिविस्ट रिजर्व' (Extractivist Reserves) की स्थापना की गई। इस संरक्षित क्षेत्र में पेड़ काटे नहीं जाते थे और इनका उपयोग कंद, मूल, फल, और प्राकृतिक रबड़ जमा करने के लिए किया जाता था।

पारिस्थितिक भूमि सुधार के कई अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। जिन परिवारों को जमीन दी जाती है अगर वे इनका उपयोग बहुमंजिले घरेलू - बगीचे के रूप में करते हैं तो इससे मिट्टी का कटाव रुकता है और इसकी उर्वरा-शक्ति भी बनी रहती है।

नेपाल में चलने वाला सामुदायिक कार्यक्रम पारिस्थितिक भूमि सुधार का एक अच्छा उदाहरण है। इस कार्यक्रम ने सूनी पड़ी पहाड़ी ढलानों पर फिर से हरियाली लायी है और जंगल के जमीन की ग्रामीण-स्तर पर उत्कृष्ट व्यवस्था की मिसाल भी खड़ी की है। इस कार्यक्रम से लाखों लोगों को लाभ हुआ है। दूसरे देशों में भी इस मॉडल का अध्ययन होना चाहिए।

यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि विश्वबैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय सहायता एजेंसियां नेपाल और दक्षिणी गोलार्द्ध के अन्य देशों पर सामुदायिक-वानिकी और भूमि सुधार के इन कार्यक्रमों को समाप्त करने के लिए दबाव बना रही है। ये संस्थाएं जमीन पर मिल्कियत की सभी प्रकार की

सामुदायिक और ग्राम आधारित व्यवस्थाएं समाप्त कर भूमि-संसाधनों का पूर्ण निजीकरण करवाना चाहती हैं। विश्वबैंक द्वारा जोर-शोर से चलाए जा रहे भूमि-सुधार विरोधी कार्यक्रम यदि लागू होंगे तो भूख और गरीबी बढ़ेगी, उन वनों का बड़े पैमाने पर विनाश होगा जिनपर अभी जंगल के मूल निवासियों अधिकार हैं और जमीन के कटाव तथा उर्वराशक्ति में कमी की समस्याएं भी बढ़ेंगी।

प्रभावित होने वाले लोगों की संख्या की दृष्टि से जमीन की उर्वराशक्ति का ह्रास पर्यावरण की एक बहुत बड़ी समस्या है। इसके बावजूद मीडिया में इस समस्या की चर्चा बहुत कम होती है जबकि अन्य कई कम महत्वपूर्ण समस्याएं अधिक स्थान पाती हैं। जब कभी इस समस्या पर मीडिया में चर्चा होती है तो बढ़ते मरुस्थलीकरण जैसे इसके नाटकीय पहलुओं को ही केंद्र में रखा जाता है। मरुस्थलीकरण की समस्या गंभीर अवश्य है लेकिन उर्वराशक्ति में ह्रास जैसी उन समस्याओं पर भी ध्यान देने की जरूरत है जो उतने 'नाटकीय' नहीं। यही बात समस्याओं के सरल समाधानों पर भी लागू होती है।

बड़े पैमाने पर जमीन भी उर्वराशक्ति को घटाने के पीछे हवा और पानी द्वारा मिट्टी के कटाव या अपर्दन (Erosion) का योगदान है। काफी समय तक कृषि वैज्ञानिकों का मानना था कि मिट्टी की गुणवत्ता में ह्रास का अर्थ है अपर्दन और मिट्टी की सुरक्षा का अर्थ है अपर्दन-नियंत्रण। हाल में इस विषय में वैज्ञानिकों ने थोड़ा व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। यह सही भी है क्योंकि मिट्टी की उर्वरा-शक्ति में कमी का एकमात्र कारण अपर्दन नहीं है, हालाँकि यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है।

अपर्दन-नियंत्रण के अलावा, जमीन की उर्वरा-शक्ति को बनाए रखने के लिए इसमें पाए जाने वाले जैविक पदार्थ (Organic Matter) और पोषक तत्वों की रक्षा तथा मिट्टी के भौतिक गुणों का बचाव आवश्यक है। उष्णकटिबंधीय वर्षा-वनों में 'लीचिंग' (Leaching), (पानी के द्वारा मिट्टी के पोषक तत्वों का जमीन की ऊपरी सतह से नीचे की ओर बहाकर ले जाने की प्रक्रिया) उर्वरा-शक्ति को घटाने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारण है। इसके अलावा जमीन में जहरीले तत्वों के जमा होने अर्थात् जमीनी-प्रदूषण या सिंचाई के कारण होने वाले क्षारीकरण से भी मिट्टी की उर्वरा शक्ति घटती है। UNEP का अनुमान है कि हर साल करीब 60-70 लाख हेक्टेयर कृषि योग्य भूमि अपर्दन के कारण नष्ट हो रही है। इसके अलावा 1.5 लाख हेक्टेयर जमीन जल-जमाव के कारण बर्बाद हो रही है। दुनियाँ की कुल सिंचित भूमि (23 करोड़ हेक्टेयर) का आधे से एक तिहाई हिस्सा जल-जमाव और क्षारीकरण की समस्या से ग्रस्त है। 1992 में मिट्टी की गुणवत्ता-ह्रास के बारे में किए गए वैश्विक अध्ययन (Global Assessment of Soil Degradation) से पता चला है कि 1945 से 1990 के बीच करीब 2 करोड़ वर्ग किलोमीटर जमीन की गुणवत्ता में ह्रास हुआ जिसमें 1.22 करोड़ वर्ग किलोमीटर जमीन की उत्पादन क्षमता में गंभीर कमी आयी। भारत के बारे में अनुमान लगाया जाता है कि

खेती के लायक कुल भूमि के एक तिहाई भाग को मिट्टी की ऊपरी परत पूरी तरह समाप्त हो जाने का खतरा है। 'वर्ल्डवाचइंस्टीच्यूट' के अनुसार अफ्रीका में कृषि योग्य भूमि का 65% दक्षिण अमरीका में 45% और एशिया में 38% एक हद तक खराब हो चुका है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के 'फूडएंडएग्रीकल्चरऑर्गनाइजेशन (FAO) के अनुसार अपर्दन के कारण विश्व की वर्षा-सिंचित जमीन की उत्पादकता अगले कुछ दशकों में 30% तक घट सकती है। चीन की कृषि-भूमि का 73% और पाकिस्तान में 80% जमीन फॉस्फोरस की शिकार है।

इस समस्या का पैमाना बहुत विस्तृत है, लेकिन इसके लिए कई सस्ते और सरल समाधान उपलब्ध हैं। इंग्लैंड के एसेक्स विश्वविद्यालय के जूलस प्रेटी द्वारा जैविक-खेती करने वाले 200 प्रोजेक्टों में किए गए सर्वे से पता चलता है कि जैविक-खेती के कारण औसत उपज में 73% तक की वृद्धि हुई है। इन 200 प्रोजेक्टों से 4 लाख किसान परिवारों को अपनी उपज और आय बढ़ाने में अच्छी मदद मिली है।

विघटन के बाद सोवियतसंघ ने क्यूबा को सस्ते अनाज और कृषि-रसायनों की आपूर्ति बंद कर दी। इसके कारण क्यूबा को बहुत ही कम समय में प्राकृतिक खेती (Organic Farming) को अपनाना पड़ा। आशा के विपरीत इसके परिणाम बहुत ही अच्छे हुए हैं। रासायनिक खाद की जगह जैविक नाइट्रोजन स्थिरीकरण (Biological Nitrogen Fixation) अपनाया गया जिसके लिए एक साथ मक्का, बीन और कसावा (Cassava) की खेती की जाती है। इसके उपज को दुगुना कर दिया। दुनिया के कई हिस्सों में किसानों ने अपनी जमीन को जोतना बंद कर दिया है। इससे उनके श्रम और खर्च में कमी आती है। जोतने से जमीन की खर-पतवार तो समाप्त हो जाती है लेकिन जमीन की उर्वरा-शक्ति घटती है और अपर्दन भी बढ़ता है। अगर खेतों को जोता न जाए तो ये सालाना प्रति हेक्टेयर 1 टन कार्बन अवशोषित कर सकते हैं। इससे वैश्विक तापमान वृद्धि को रोकने में भी मदद मिल सकती है। अर्जेंटीना में एक तिहाई और अन्य लैटिन अमेरिकी देशों में लाखों किसानों ने हलों का इस्तेमाल बन्द कर दिया है।

अब बड़े पैमाने पर ऐसा सोचा जाता है कि मिट्टी की सतह पर गीली घास (Mulch) की एक परत अपर्दन और घटती हुई उर्वरा-शक्ति को रोकने का सबसे कारगर तरीका हो सकता है। वर्षा की बूंदें जब गीली-घास की सतह पर गिरती हैं तो वे महीन कुहरे में बदल जाती हैं जिससे जमीन के अपर्दन का खतरा नहीं रहता।

अपर्दन को रोकने में इस गीली घास का दुहरा-प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए तेल वाले पाम वृक्षों के बगीचे में पाम से काटी गयी मुलायम पत्तियों को जमीन पर फैला देने से अपर्दन काफी कम हो जाता है। पत्तियों को जमीन पर बिछाने के क्रम में इनके सिरों को निचली सतह पर रखना चाहिए ताकि फुनगियों से डंठल की ओर प्रवाह पैदा हो सके। जब ऐसी विधियों का उपयोग किया जाता है तो गीली घास महीन मिट्टी से पोषक तत्वों को बाहर निकलने से बचाती

है क्योंकि यह एक प्रकार से असंख्य सूक्ष्म-संग्राहकों (Catchments) का काम करती है जो मिट्टी के महीन कणों को बखूबी पकड़ लेते हैं।

गीली-घास में पाए जाने वाले जीवतत्व खाद का भी काम करते हैं। इससे महंगे औद्योगिक खादों पर निर्भरता घटती है। उत्तरी नाइजीरिया में किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि फसलों के अवशेष में उपलब्ध पोषकतत्वों की मात्रा वहाँ उपयोग किए जाने वाले खनिज-खादों में उपलब्ध पोषकतत्वों से 80 गुणा अधिक है। इसके अलावा गीली घास मिट्टी के तापमान और वाष्पीकरण को तो घटाती ही है, मिट्टी में प्रवेश करने पर वर्षा-जल की मात्रा भी बढ़ाती है। नाइजर के अर्द्ध-मरूस्थली क्षेत्र में बिना रासायनिक खाद के उपजाए जाने वाले बाजरे (Millet) की उपज 0.2 टन प्रति हेक्टेयर थी। प्रति हेक्टेयर 4 टन गीली घास का उपयोग करने पर उपज में चार-गुणा वृद्धि पायी गयी।

माना जाता है कि पेड़ लगाने से अपर्दन में काफी कमी आती है। पेड़ों से पैदा होने वाला कचरा अपर्दन को 95% तक कम कर सकता है। पेड़ों की टहनियों और पत्तों का उपयोग यदि गीली घास के रूप में किया जाय तो इनकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है।

अगर पेड़ों से पैदा होने वाले कचरे को जलाया जाता है तो पड़ों के नीचे पैदा होने वाली घास और झाड़ियाँ वगैरह भी खत्म हो जाती है जिससे कि अपर्दन का खतरा बढ़ जाता है। इसके अलावा पेड़ के द्वारा बनी छतरी वर्षा की बूंदों को एक जगह जमा कर बड़ा और भारी बनाती है। ऊँचाई से गिरी इन बूंदों से भी अपर्दन का काफी खतरा रहता है। सबसे कम अपर्दन अछूते प्राकृतिक वनों और बहुमंजिले घरेलू बगीचों (जिनकी बनावट प्राकृतिक जंगल जैसी ही होती है) में पाया जाता है।

इस प्रकार की बहुमंजिली कृषि-व्यवस्था पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है जिसमें पेड़ वाली फसलों को अन्य पौधों के पास खेतों में बोया जाता है। कृषि की इस प्रणाली के अंतर्गत किसी भी पारिस्थितिक तंत्र में कैलोरी, प्रोटीन एवं अन्य पोषकतत्वों के हिसाब से-प्रति हेक्टेयर अधिक अन्न का उत्पादन संभव है।

पेड़ लगाने की यह प्रथा स्वतः स्फूर्त है। जब आबादी का घनत्व एक सीमा से बढ़ जाता है और जनसंख्या वृद्धि जारी रहती है तो ऐसी प्रक्रिया स्वयं चालू हो जाती है। यह दुनियाँ के कई हिस्सों में देखा जा सकता है। जहाँ कहीं भी जनसंख्या का घनत्व एक स्तर से ऊपर हो जाता है वहाँ इस प्रकार की बहुमंजिली, बहु-प्रजातीय कृषि-वानिकी (Agro-forestry) शुरु हो जाती है जिसे उष्णकटिबंधीय घरेलू बगीचों के नाम से भी जाना जाता है।

दक्षिण-पूर्वी नाइजीरिया में जनसंख्या का घनत्व 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर के करीब है। यहाँ भी जनसंख्या वृद्धि का सीधा संबंध पेड़ों की संख्या बढ़ने से जुड़ा पाया गया है। इसी तरह की प्रवृत्ति तंजानिया और केन्या में किलिमंजारो और मेरु की घनी आबादी वाले ढलानों,

जंजीबार द्वीप, रुआंडा, चीन, भारत और जावा में भी पायी जाती है। इन स्थानों पर उष्णकटिबंधीय घरेलू बगीचे कृषि योग्य कुल जमीन के 75% हिस्से में पाए जाते हैं।

केन्या में सरकार और कुछ गैर-सरकारी संस्थाओं ने लोगों को अपने पेड़ लगाने के लिए प्रोत्साहित किया है। इसके कारण केन्या, अफ्रीका में पहला ऐसा देश है जिसने जीवित बायोमास के ह्रास की दिशा उलट दी है। ताजा अध्ययनों के अनुसार केन्या के 42 जिलों में से 39 जिलों में बायोमास (पेड़-पौधे एवं अन्य वनस्पतियों की कुलमात्रा) की मात्रा में वृद्धि दर्ज की गई है। कई जिलों में तो यह वृद्धि देखने लायक है।

इस प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट है- घरेलू बगीचे जिनमें कई प्रकार के पेड़ लगाए जाते हैं अधिक उपजाऊ होते हैं। उदाहरण के लिए नाइजीरिया के सघन आबादी वाले क्षेत्रों में बहुमंजिले बगीचे से होनेवाला उत्पादन परंपरागत ढंग से की जा रही खेती की तुलना में 5-10 गुणा अधिक होता है।

गणना के अनुसार फलों के पेड़ दुनियाँ की कुल कृषि-भूमि का मात्र 2-3% ही घेरते हैं लेकिन अनाज के कुल उत्पादन (सकल) में इनका योगदान 5-7% है। कृषि उत्पादन से होने वाली राष्ट्रीय-आय में इनका योगदान 10-35% के बीच होता है।

जब उष्णकटिबंधीय वन को काटकर खेतों या चारागाहों में बदला जाता है तो वनस्पति में संरक्षित कार्बन की मात्रा 90-99% तक कम हो जाती है। यह वैश्विक तापमान को बढ़ाती है। दूसरी ओर खेतों और चारागाहों को बहुमंजिले घरेलू-बगीचों में तब्दील करने से वातावरण में उपस्थित कार्बन की मात्रा में भारी कमी आती है। कुछ बहुमंजिले घरेलू बगीचे तो प्रति हेक्टेयर सैकड़ों टन कार्बन संचित कर सकते हैं।

जॉन शोल्टो डगलस और ए. जे. डी हार्ट के अनुसार दुनियाँ के स्थलीय भाग के 8-10% हिस्से पर ही खेती की जा रही है। लेकिन यह वर्तमान में उपलब्ध अच्छी किस्म की कृषि-योग्य भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा है। लेकिन फलों को स्थलीय भाग के 75% हिस्से में लगाना संभव है। पेड़ों को ऐसी जमीन पर भी लगाया जा सकता है जो परंपरागत कृषि के लायक नहीं है। फलों के पेड़ मरुस्थलीय, अर्द्धमरुस्थलीय, तेज पहाड़ी ढलानों और वर्षा-वन वाली जमीनों पर भी लगाए जा सकते हैं।

मरुस्थलीय पारिस्थितिकतंत्र में सूखे मौसम में जमीन बिल्कुल रेगिस्तान सी हो जाती है लेकिन बारिश होने के साथ ही स्थिति बेहतर हो जाती है। दरअसल मरुस्थलीकरण तभी होता है जब अपवर्षण के कारण जमीन के पोषक तत्वों का लगातार ह्रास होता रहा हो और प्राकृतिक-सुधार की संभावना समाप्त हो गयी हो।

जिन क्षेत्रों में बारिश की संभावना अनिश्चित होती है खाद्यान्न उत्पादन की सुरक्षा गरीब तबकों की सबसे बड़ी चिंता होती है। ऐसे क्षेत्रों में पेड़ों की फसलें खासकर महत्वपूर्ण होती हैं

क्योंकि इनसे सुखाड़ वाले वर्षों में भी फसल मिलने की संभावना रहती है। वर्षा पर आधारित अन्य सालाना फसलें ऐसी हालत में उपज नहीं देती।

यदि अति-मरुस्थली, मरुस्थली, अर्द्ध-मरुस्थली, अर्द्ध-दलदली (Sub-Humid) जमीनों को शामिल किया तो दुनियाँ के शुष्क-स्थलीय भाग का क्षेत्रफल 6.1 अरब हेक्टेयर के करीब है। इस शुष्क भूमि पर करीब 1 अरब लोग रहते हैं और भविष्य में शायद इस जमीन को और भी अधिक लोगों के भोजन का इन्तजाम करना पड़ेगा। चूँकि इन शुष्क प्रदेशों में पैदा होने वाली वनस्पतियों पर बीज-उत्पादकों ने कभी ध्यान नहीं दिया है, इसलिए इस क्षेत्र में आकर बसने वाले लोग ऐसे पौधे और फसलें ही लगाते हैं जिनमें अपेक्षाकृत अधिक पानी की जरूरत होती है। इसके कारण खाद्यान्न उत्पादन बहुत अनिश्चित हो जाता है- अकाल वाले वर्षों में तो कोई फसल ही नहीं हो पाती है। आज दुनिया की खाद्यान्न-सहायता का 90% इन्हीं शुष्क प्रदेशों को दिया जा रहा है। इन समस्याओं से निबटने का सबसे महत्त्वपूर्ण और एकमात्र रास्ता है इन शुष्क प्रदेशों में उगने वाले जंगली फल, सूखे मेवे, कंद-मूल आदि को खाने के लायक बनाकर उनकी खेती करना।

पेड़ वाली फसलें और बहुमंजिले घरेलू बगीचे इन मरुस्थली परिस्थितियों के लिए खेती की सबसे अच्छी तकनीकें हैं। खाद्य पदार्थ पैदा करने वाले पेड़ ऐसी जमीन पर भी उगाये जा सकते हैं जहाँ परंपरागत खेती संभव नहीं है। इसके इलावा खाद्य पदार्थ पैदा करने वाले पेड़ों से प्रति हेक्टेयर जितनी प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट की प्राप्ति होती है उतनी शुष्क भूमि पर उपजने वाले अन्य किसी खाद्यान्न की फसल से नहीं हो सकती।

अपनी गहरी जड़ों के कारण पेड़ जितनी नमी और पोषकतत्त्वों को प्राप्त करते हैं वह सालाना फसलों की पहुंच के बाहर होता है। शुष्क-प्रदेशों में विकसित होने वाले पेड़ बड़े से बड़े अकाल में भी फल देते हैं। अच्छी व्यवस्था वाले बाग बगीचे तो मिट्टी की अच्छी परत बनाने में भी योगदान देते हैं- प्रत्यक्ष रूप से और कचरे के उत्पादन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से।

अति-नम उष्णकटिबंधीय वर्षा-वनों में जमीन की ऊपरी परत में पोषक तत्व बिलकुल ही नहीं होते। भारी वर्षा में ये पोषक तत्व रिसकर मिट्टी की गहरी परतों में समा जाते हैं। अधिकांश पोषक तत्व वनस्पति के अंदर ही होते हैं और इन्हें पेड़ों द्वारा लगातार पुनर्चक्रित (Recycle) कर उपयोग में लाया जाता है। अगर पेड़ों की जगह सालाना-फसलें लगायी जाए या चारागाह बनाए जाएं तो ज्यादातर पोषक तत्व बहुत जल्द समाप्त हो जाएंगे।

जमीन को चारागाह में बदलने के लिए इसे जलाकर साफ किया जाता है। इसके कारण तात्कालिक उर्वरता पैदा होती है जो साल-दो साल में समाप्त हो जाती है। इसके बाद जमीन पर खर-पतवार छा जाते हैं जिनमें से कई पशुओं के लिए जहरीले होते हैं। खर-पतवार से मुक्ति

पाने के लिए इन्हें जलाना होता है। बार-बार आग लगाने से जमीन की उर्वरा-शक्ति घटती जाती है।

तीन से पाँच साल के बाद जमीन को छोड़कर जाना होता है और इसे काफी लम्बे समय तक परती (Fallow) रखना पड़ता है। इस क्रम में मिट्टी की उर्वरा-शक्ति का बहुत अधिक नुकसान हो चुका होता है- क्योंकि पेड़ कट चुके होते हैं अधिकांश पोषक तत्व रिसकर मिट्टी की गहरी परतों में समा चुके हाते हैं जिनका उपयोग वो पेड़ भी नहीं कर पाते जो इस जमीन पर परती की अवधि में पैदा होते हैं।

यदि जलाने और खेती करने की अवधि बहुत लंबी हो और उन्हें बार-बार दुहराया जाय तो काटो और जलाओ (Slash and Burn) विधि से की गयी खेती के परिणाम भी ऐसे ही होते हैं। इसका भी एक ही समाधान है - स्थायी फसलों को सलाना पेड़ों के साथ मिलाकर खेती करना। अगर जमीन पर हमेशा बड़ी संख्या में पेड़ उगे हों तो पोषक तत्व रिसकर मिट्टी की गहरी परतों में प्रवेश नहीं करेंगे। बल्कि पेड़ों की जड़ों की छोटी-छोटी शाखाएं इन्हें पकड़ लेंगी और व्यवस्था में पुनर्चक्रित कर देंगी।

पोषक तत्वों का पुनर्चक्रण वर्षा-वन के पारिस्थितिक तंत्र का असली आधार है। जबतक पोषक तत्वों का पुनर्चक्रण चलता रहता है वर्षा-वन भूमि पर फसलें उगायी जा सकती हैं - हजारों सालों तक, स्थायी रूप से। सिद्धांततः इस तरह की खेती तो और लंबे समय तक की जा सकती है - कुछ वर्षा वन तो 10 करोड़ साल या उससे भी अधिक समय से पृथ्वी पर पाए जाते हैं।

अगर परंपरागत ढंग से खेती की जाए या उनका चारागाह के रूप में उपयोग किया जाए तो वर्षा वन भूमि दुनियाँ की सबसे कम उपजाऊ भूमि साबित होती है। लेकिन यदि बहुमंजिली घरेलू बगीचे के तरीके से इस जमीन का उपयोग किया जाता है और स्थायी रूप से पेड़ उगाए जाते हैं तो अति-अर्द्रता और उच्च-ताप के साथ होने के कारण यही उपजाऊ सिद्ध होती है। उष्णकटिबंधीय वर्षा-वन जिन क्षेत्रों में पाए जाते हैं वहाँ बारिश प्राकृतिक रूप से काफी होती है। लेकिन कुछ क्षेत्रों में पेड़ों के कारण बारिश की मात्रा दुगुनी से तिगुनी तक ज्यादा हो सकती है। वर्षा-वन के पेड़ बड़ी मात्रा में जल को वाष्पीकृत भी करते हैं जो वनों के ऊपर बादल बनने की प्रक्रिया को तेज करता है। जल और पोषक तत्वों का अति-तीव्र और सक्षम पुनर्चक्रण भारी मात्रा में जैविक उत्पादन को बढ़ावा देता है।

पनामा के प्राकृतिक वर्षा-वन के एक अध्ययन में पाया गया कि यहाँ फलों की प्रति हेक्टेयर सालाना उपज 40 टन (शुष्क वजन 8 टन) के बराबर है। यह मात्रा काफी है, खासकर तब जब हमें मालूम है कि वर्षा-वन में पाए जाने वाले पेड़ों पर फल नहीं लगते।

अपने उत्कर्ष काल में माया-सभ्यता वर्षा-वन क्षेत्र के सघन-आबादी वाले क्षेत्रों में 700-1150 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर तक की आबादी का भरण-पोषण करता था। क्लाइव पॉटिंग के अनुसार “तिकल (Tikal) के बाहरी क्षेत्रों में हुई खुदाई से पता लगता है कि अपने उत्कर्ष-काल में इसकी आबादी कम से कम 30,000 या संभवतः 50,000 तक थी। (विख्यात शहर मेसोपोटामिया की भी यही आबादी थी।) दूसरे शहर इतने विशाल तो नहीं, लेकिन फिर भी, सघन शहरी बसाव वाले थे। अपने उत्कर्षकाल के दौरान माया-क्षेत्र की आबादी 50 लाख के करीब रही होगी जबकि इसी क्षेत्र में अब मात्र 10-20 हजार लोग ही निवास करते हैं।”

प्राचीन माया सभ्यता के वंशज लैकान्डन माया (Lacandon Maya) चियापा वर्षा-वन (मेक्सिको के प्रसिद्ध जापतिस्ता विद्रोह की भूमि) में आज भी वही तरीके इस्तेमाल करते हैं जिसके आधार पर प्राचीन काल में इस क्षेत्र में इतनी बड़ी आबादी अपना जीवनयापन करती थी। लैकान्डन जंगल के अंदर जमीन के एक छोटे टुकड़े को साफ करते हैं। यह टुकड़ा एक हेक्टेयर के करीब होता है। काटे गए पेड़ों और टहनियों को जमीन पर ही छोड़ दिया जाता है जिससे कि जमीन का अपर्दन न हो और पोषक तत्व जमीन की भीतरी सतह की ओर न रिसें। जंगल साफ करने के बाद पेड़ की जगह और स्थायी जीवन और तीव्र वृद्धि वाले पौधे जैसे केले और पपीते को इस जमीन में लगाया जाता है। इससे पोषक तत्वों का नुकसान नहीं होता।

जमीन में अमरुद, बेर, शरीफा, अनानास, ककाओ (Cacao), एवोकाडो (Avocado) और नींबू भी लगाते हैं। एक पुराने जमीन के टुकड़े में, जिसे खेती के लिए अभी-अभी साफ किया गया है, फलों के अनेक पेड़ होते हैं। इन पेड़ों के तनों पर याम (Yam) जैसे लत्तड़ पैदा किए जाते हैं। पेड़ों के बीच-बीच में मक्का, कसावा, शकरकंद, धान, ईख और अन्य फसलें लगायी जाती हैं।

लैकान्डन पौधों को अलग-अलग क्यारियों में बाँटकर नहीं लगाते। इसके विपरीत, वो इस बात का ख्याल रखते हैं कि एक ही प्रजाति के पौधे उसी किस्म के अन्य पौधों से कम से कम 3 मीटर की दूरी पर हो। इसके पीछे यह सोच है कि ऐसा करने से खास पौधों पर हमला करने वाले कीट और बीमारियों से बचाव होता है और उपलब्ध पोषक तत्वों का बेहतर उपयोग होता है। पश्चिमी ढंग की परंपरागत बागवानी में अलग-अलग फसलों के बीच की जगह खर-पतवार मुक्त रखना काफी मेहनत का काम है। लैकान्डन व्यवस्था में फसलों के बीच कोई जगह ही नहीं होती क्योंकि इंच-इंच जमीन का उपयोग अलग-अलग फसलों को लगाने में किया जाता है जिनका विशेष उद्देश्य होता है। इसके कारण खर-पतवार की समस्या समाप्त तो नहीं हो जाती पर काफी कम जरूर हो जाती है।

जमीन के एक टुकड़े पर 3 से 7 साल तक लगातार खेती की जाती है। इस अवधि के बाद खर-पतवार बहुत बढ़ जाता है और जमीन को 5 साल या उससे अधिक समय तक परती छोड़ दिया जाता है। परती के अवधि के समाप्त होने के बाद उस जमीन को खेती के लिए फिर से

साफ किया जाता है। परती के अवधि के दौरान भी फलों के पेड़ से मानव-उपभोग के लिए खाद्य उत्पादन चालू रहता है।

0.4 हेक्टेयर के लैकण्डन 'मिल्पा' से सालाना ढाई टन मक्का और इसी मात्रा में पेड़ और कंदमूल की फसलें पैदा होती हैं। इसी क्षेत्र में पशुपालन के कारण प्रति हेक्टेयर 10-50 किलोग्राम मांस का भी उत्पादन होता है।

लैकण्डन व्यवस्था से हमें थोड़ा अंदाजा लगता है कि वर्षा-वन में इस प्रकार खेती करने से क्या-क्या सम्भव हो सकता है। लेकिन लैकण्डन व्यवस्था ही हमारे लिए आदर्श नहीं है। बहुमंजिली वर्षा-वन बागवानी भी आसानी से अपनायी जा सकती है जो अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ होगी। लैकण्डन माया अपने 'मिलपा' में फलों के छोटे-छोटे पेड़ ही लगाया करते हैं। इन्हें आडू, इंगास (Ingas), ब्रेड-फ्रूट (Bread-Fruit), कटहल और केला (Plantain) जैसे पेड़ों की जानकारी नहीं थी।

सी. आर. क्लेमेंट तथा एच. विलाचिका के अनुसार अमेजन के आडू-पाम (Peach Palm) सालाना 30 टन तक पैदावार दे सकते हैं। दूसरे शब्दों में मांस के लिए पशुपालन की तुलना में आडू के फसल से मानव-उपयोग के लायक प्रोटीन और कैलोरी की 500-2500 गुणा अधिक मात्रा पैदा की जा सकती है। यह तुलना भी अल्पकालिक है। लंबे समय में यह अंतर और भी नाटकीय हो सकता है क्योंकि मांस के लिए लगातार 5-7 साल तक पशुपालन (Cattle Ranching) करने के बाद जमीन को छोड़ना पड़ता है।

विश्व भर में करीब 3 करोड़ वर्ग-किलोमीटर क्षेत्र पहाड़ी है जिसमें 60 करोड़ लोग निवास करते हैं। पहाड़ बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि विश्व की प्रमुख नदियाँ पहाड़ों से ही निकलती हैं और आधी से अधिक मानवता पानी के लिए पहाड़ों पर ही निर्भर है।

महत्वपूर्ण होने के बावजूद सरकारी कार्यक्रमों में पहाड़ी क्षेत्रों की उपेक्षा ही होती रही है। अनुमान लगाया जाता है कि पहाड़ों में रहने वाले 80% लोग गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं। पहाड़ी लोग अपने आप को अकेला और कडुआहट से भरा हुआ पाते हैं। यह मात्र संयोग ही नहीं है कि 1999 में हुए 27 प्रमुख युद्धों में 23 पहाड़ी देशों में ही लड़े गए। तेज ढलान वाले पहाड़ी क्षेत्र में यदि जटिल सीढ़ीदार खेतों की व्यवस्था न की जाए तो मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ परत के तुरंत बह जाने का खतरा रहता है। हजारों सालों के दौरान जमा हुई मिट्टी की यह उपजाऊ ऊपरी परत कुछ ही सालों में समाप्त हो सकती है।

सीढ़ीदार खेती के बिना भी पेड़ों, झाड़ियों और सालाना फसलों के उचित मिश्रण द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। तेज ढलान वाले पहाड़ों पर, जहाँ मिट्टी का दर्शन दुर्लभ है, पेड़ पैदा होते हैं। उनकी जड़ें पत्थरों की दरारों में अंदर धँसकर आवश्यक पोषकतत्व और नमी प्राप्त कर लेते हैं। पहाड़ों की परिधिरेखा (Contour Line) के साथ-साथ सटाकर

लगायी गयी झाड़ियों और पेड़ों में भी मिट्टी को रोके रखने की क्षमता होती है। धीरे-धीरे इन क्षेत्रों में समतल सीढ़ियाँ जैसी बन जाती हैं जिसपर दूसरी फसलें भी उगायी जा सकती हैं या सीढ़ीनुमा खेतों के पायदान पर पेड़ लगाकर भी मिट्टी को संरक्षित करने में लगे श्रम को कम किया जा सकता है।

आज से हजारों साल पहले प्राचीन यूनान में सघन खेती और चारागाही के कारण मिट्टी की ऊपरी परत समाप्त हो गयी थी। इसके बाद यूनानवासियों ने अपर्दित पहाड़ी ढलानों पर जैतून उगाना शुरू किया क्योंकि वहाँ दूसरी फसल पैदा ही नहीं हो सकती थी। इसने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में फैली यूनानी-सभ्यता की अर्थव्यवस्था को डूबने से बचा लिया ।

अन्य पहाड़ी पारिस्थितिक तंत्रों के लिए भी पेड़ों वाली फसलें (Tree Crops) महत्वपूर्ण साबित हो सकती हैं। कुछ वर्ष पहले पाकिस्तान की सरकार ने एक लोगों के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक खाद्यतेल उत्पादन का एक रोचक कार्यक्रम शुरू किया है। पाकिस्तान में सालाना 20लाख टन खाद्यतेल की खपत होती है। इसमें से मात्र 8-9 लाख टन तेल पाकिस्तान में पैदा होता है। शेष खाद्यतेल का आयात किया जाता है जिस पर करीब 40 अरब रुपए खर्च होते हैं। पाकिस्तान की सरकार ने फैसला किया कि अपने दो पहाड़ी सूबों उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश तथा बलूचिस्तान में बड़े पैमाने पर जैतून की खेती को प्रोत्साहन देगी । अगर इन दो राज्यों की बंजर-भूमि के एक छोटे से हिस्से में भी जैतून की खेती होने लगे तो पाकिस्तान खाद्यतेलों में आत्मनिर्भर हो जाएगा । यह भारत और अन्य देशों को जैतून -तेल का निर्यात भी करने लगेगा ।

कार्यक्रम को स्थानीय जैतून की किस्मों को मूलनस्ल के रूप में इस्तेमाल कर अफगानिस्तान से लाई बेहतर किस्मों के साथ मिलाकर संकर किस्म के रूप में विकसित करना चाहिए था । पाकिस्तान सरकार का सोचना था कि इस कार्यक्रम से पाकिस्तान, भारत एवं अन्य दक्षिण एशियाई राष्ट्रों के जन-स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

पाकिस्तान, भारत, उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका और दक्षिण एशियाई राष्ट्रों के लोगों की नसें यूरोप के लोगों की तुलना में पतली होती हैं। इसका अर्थ है कि नुकसान देह खाद्य तेलों के इस्तेमाल से दक्षिण एशियाई लोगों को दिल की बीमारियों का अधिक खतरा है। इन तेलों से एथेरोस्क्लेरोसिस (Atherosclerosis) होने का खतरा रहता है। एथेरोस्क्लेरोसिस में धमनियों में धीरे -धीरे चर्बी जमा होती जाती है जो रक्त प्रवाह को बाधित करने लगती है। भारत में काम करने वाले हृदयरोग विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में जहाँ उनके रोगियों की औसत आयु 54 वर्ष है यूरोप में यही 65 वर्ष है। दक्षिण एशिया के लोगों ने स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यंत हानिकारक वसा तत्वों का अत्यधिक इस्तेमाल शुरू कर दिया है जिसका गंभीर दुष्प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ सकता है। गरीबों के लिए समस्या है कि उन्हें बहुत ही कम मात्रा में वसा मिल पाता है। लेकिन इन्हें भी हृदय रोग की महामारी से एक दूसरे तरीके से खतरा है। अगर

सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था का बड़ा हिस्सा इन मध्यमवर्गीय और उच्चवर्गीय लोगों के हृदय रोग के उपचार के लिए खर्च किया जाएगा तो गरीबों के स्वास्थ्य एवं उपचार के लिए कम संसाधन उपलब्ध होंगे।

दक्षिण एशियाई बाजारों के लिए जैतून-तेल उत्पादन की योजना से इस परिस्थिति में खासा सुधार हो सकता था। जैतून-तेल हृदय रोगों से बचाव में काफी कारगर होता है। जैतून का 80 प्रतिशत भाग लाभकारी वसा-अम्लों (Fatty Acids) का बना होता है जो खून में पाए जाने वाले 'खराब कोलेस्ट्रॉल' को कम करने में मदद करता है। इसका अर्थ है कि जैतून-तेल हृदय की धमनियों में अवरोध पैदा करने वाले तत्वों को कम करता है। भूमध्यसागरीय देश यूनान और इटली की तुलना में इंग्लैंड और अमरीका में हृदय-रोग 4 गुणा अधिक पाया जाता है। ध्यान देने की बात है कि यूनान (Greece) और इटली में लोग बड़ी मात्रा में जैतून के तेल का इस्तेमाल करते हैं। दुर्भाग्यवश सन् 2002 के आखिर में पाकिस्तान की सरकार को जैतून उत्पादन कार्यक्रमों के लिए दी जाने वाली सहायता को 4 करोड़ रूपये से घटाकर 20 लाख रूपए सालाना करने के लिए मजबूर होना पड़ा। हमें आशा करनी चाहिए कि इस कार्यक्रम को फिर से शुरू करना संभव होगा क्योंकि इसके द्वारा पाकिस्तान के दूर-दराज के पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लाखों लोगों को रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे।

तकनीकी-शब्दावली

Carbon Sink	कार्बन-सोखा
Cultivar	कल्टीवार
Effective	कारगर
Selective-breeding	चयनित प्रजनन
Public Service sector	जन सेवा क्षेत्र
Water Cooled Nuclear Reactor	जलप्रशीतन नाभिकीय भट्टियां
Fossil Fuel	जीवाश्म ईंधन
Genetic-Foundation	जीन-आधार
Genetic erosion	जीन-क्षरण
Hydrate	जलीय क्षेत्र
Hydrothermalenergy	जलतापी ऊर्जा
Biofuel	जैव ईंधन
Organic Matter	जैविक पदार्थ
Sustainable	टिकाऊ
Sediment	तलछट
Thermal Efficiency	तापीय सक्षमता
Heat Expansion	ताप-विस्तार
Nuclear Reactor	नाभिकीय भट्टी
Nitrogen Fixation	नाइट्रोजन स्थिरीकरण
Comet	पुच्छलतारा
Fallow	परनी
Ecological	पारिस्थितिकीय
Pollination	परागण
Parabola	परावलय
Organic farming	प्राकृतिक खेती
Organic mauure	प्राकृतिक खाद
Pollination	परागण
Ultra-violet Rays	पराबैगनीकिरणें
Loss of Cooling Accident (LOCA)	प्रशीतकहास दुर्घटना
Reprocessing	प्रसंस्करण
Smog	प्रदूषित कुहरा
Fungi	फफूंद

Runaway Greenhouse Effect	बेलगाम ग्रीन हाउस प्रभाव
Underground Coal Gassification	भूमिगत कोयला गैसीकरण
Geothermal	भूगर्भतापीय ऊर्जा
Geomorphologist	भूआकृति वैज्ञानिक
Global	भूमंडलीय, वैश्विक
Ground water	भूजल
Reactor	भट्टियाँ
Methane Clathrates	मिथेन-घन
Cloud condensation	मेघसंघनन
Continental-Shell	महादेशीय कवच
Coralreefs	मूंगे की चट्टान
Indigenous	मूल निवासी
Mid-latitude	मध्य अक्षांस
Anti-microbial	विषाणु विरोधी
Global Warming	वैश्विक तापमान वृद्धि
Microbe	विषाणु
Algi	शैवाल
Containment Shield	सुरक्षा कवच
Dismantling	समेटना (नाभिकीय संयंत्र को)
Enriched uranium	समृद्ध यूरेनियम
Isotopes	समावयवी तत्व
Millenium	सहस्राब्दि
Salination	क्षारीकरण
Assessment	अध्ययन
Depleted uranium	अवशिष्ट यूरेनियम
Erosion	अपर्दन
Renewable Energy	अक्षय ऊर्जा
Aerosol propellent	एरोसोल प्रेरक
Mono-culture	एक किस्म वाली कृषि
Asteroid	उल्कापिंड
Tissue	उतक